मानव-शरीर और जीवात्मा

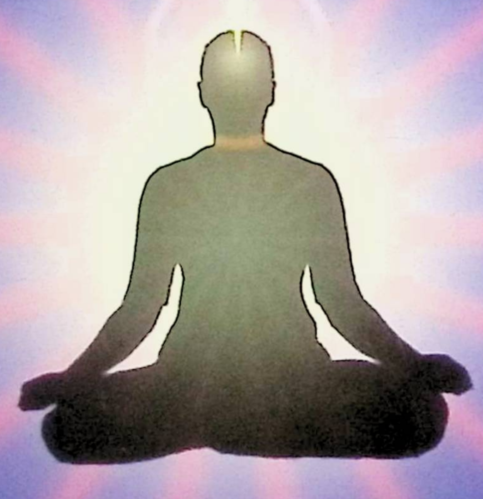

स्व० स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

(पूर्वनाम-श्री पं० पूर्णचन्द्र जी आर्य, सिद्धान्तभूषण)

भूतपूर्व महोपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर

आर्य समाज, बड़ौत जिला बागपत (उ०प्र०)

आर्य समाज, बुढ़ाना द्वार, मेरठ

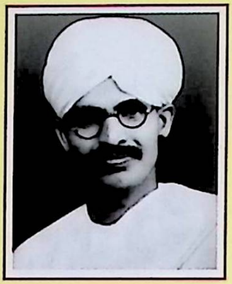

इस खोजपूर्ण पुस्तक के बारे में

अथर्ववेद १०/२ मानव-शरीर की रचना में एक क्रम है और वह क्रम यह है कि रचना का क्रम पैर की एड़ी से प्रारम्भ होता है और शिर के कपाल पर जाकर समाप्त होता है। पहले मन्त्र से लेकर तीसरे मन्त्र तक एड़ियों से लेकर दोनों जाँघों, दोनों कूल्हों और मल-मूत्र के छिद्रों तक की रचना का वर्णन है। चौथे और पाँचवें मन्त्र में शरीर के मध्य भाग की रचना का वर्णन है। जिस में छाती अस्थियों, गले की अस्थियों, हँसली, दोनों स्तनों, दोनों बाहुओं, कन्धों का मेरुदण्ड के साथ जुड़ने का वर्णन किया गया है। इससे आगे छठे मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक शिरोभाग में रहने वाले अङ्गों की

पृष्ठ सं० 22

शेष अन्तिम पृष्ठ पर

ओ३म्

मानव शरीर और जीवात्मा

लेखक

स्व० स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सम्पादक

[illegible]

प्रकाशक

[illegible]

ओ३म्

मानव शरीर और जीवात्मा

लेखक–

स्व० स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

(पूर्वनाम-श्री पं० पूर्णचन्द्र जी आर्य, सिद्धान्तभूषण)

भूतपूर्व महोपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर

आर्य समाज, बड़ौत जिला बागपत (उ०प्र०)

आर्य समाज, बुढ़ाना द्वार, मेरठ

सम्पादकः

डॉ० वेदपाल

प्रकाशकः

वेद प्रकाश तोमर

द्वितीयवृत्ति १००० सम्वत् 2076 वि०

प्रथम संस्करण : आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा सम्वत् 2041 (वर्ष 1984)

सम्पादक :

श्री रामकुमार आर्य पुरोहित

प्रकाशक :

आर्य युवक सभा

B-X, 751, सिविल हस्पताल रोड,
लुधियाना-141008

द्वितीय संस्करण : 2019

सम्पादक :

डॉ० वेदपाल

प्रकाशक :

वेद प्रकाश तोमर

मूल्य : ₹ 200

पुस्तक प्राप्ति व पत्राचार हेतुः

डॉ० वीरोत्तम तोमर

डी-8, आदर्श नगर, मेरठ-250 001

मो.: +91-9837071782

ई-मेल.: veerottam@gmail.com

ओ३म्

भारतीयता एवं वैदिक धर्म के

सच्चे संदेशवाहक

स्व. स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

13 मार्च 1900 – 20 दिसम्बर 1985

ओ३म्

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती

(वानप्रस्थ अवस्था में)

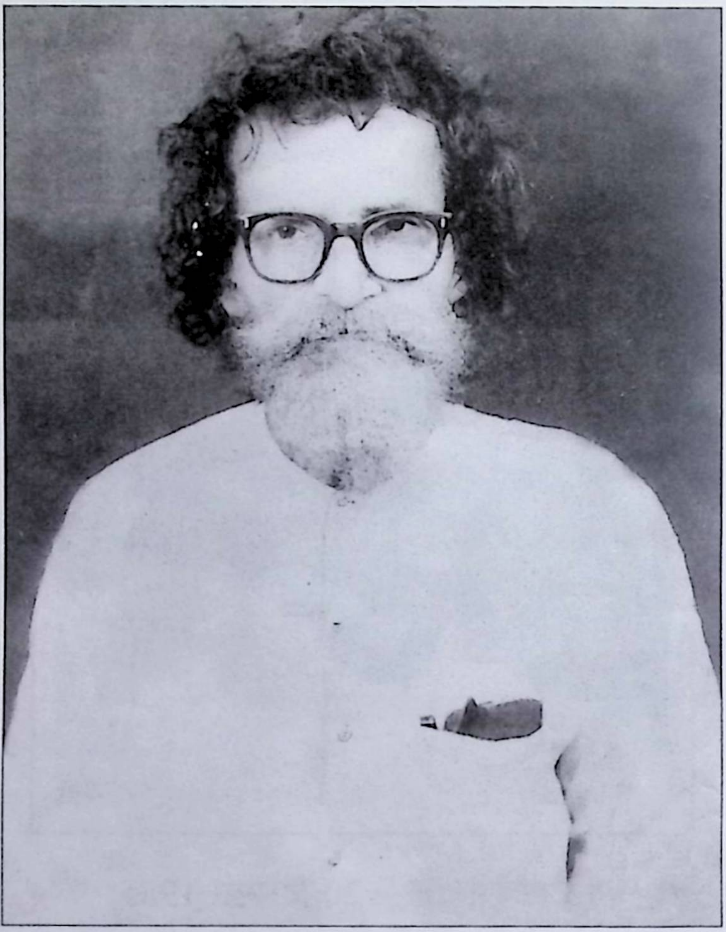

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक एवं प्रसिद्ध वेदज्ञ

आर्य-विद्वान

ओ३म्

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् (वेद)

गुरुकुल प्रभात आश्रम

(टीकरी) भोला झाल, मेरठ। 250501

पत्रांक ....

वै. कृष्ण द्वादशी
वि.सं. २०७५

प्रियात्मन्, स्वस्त्यस्तु

श्री स्वामिपूर्णानन्दसरस्वतीमहाभागानां पुस्तकं "मानव-शरीर और जीवात्मा" निभाल्य भृशं तुष्टोऽस्मि। नूनं विद्वन्मन्यानां भ्रमभञ्जनाय जिज्ञासूनाञ्च जिज्ञासाशमनाय पुस्तकमिदं प्रभविष्यतीति मन्ये।

आर्य-जगति अतिचर्चितस्य विषयस्यापि "वृक्ष जीवधारी है" इत्यस्मिन् पुस्तके बुद्धिग्राहिणी समालोचना व्यधायि।

भावत्कः

विवेकानन्दसरस्वती

सम्पादकीय

मनुष्य के अस्तित्व जितना पुराना है-मैं का चिन्तन। मैं कौन हूँ? क्या मैं का विचार करने वाला दृश्यमान शरीर है अथवा शरीर से पृथक् कोई अन्य है जो मैं और मेरे का चिन्तन करता है? क्योंकि इस दृश्य शरीर को मैं न कहकर इसके प्रति मेरे का प्रयोग प्रायशः होता है। इस मेरे के प्रयोग से पता चलता है कि दृष्टि का विषय यह शरीर तो मेरा कहने वाला मैं नहीं है। जब शरीर मैं नहीं, तब वह मैं तथा शरीर को मैं कहने वाला कौन है? तथा वह कहां रहता है? इस मैं को सामान्यतः आत्मा-जीवात्मा अथवा जीव पद से सम्बोधित किया जाता है। अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न या जिज्ञासा यही होती है कि वह आत्मा शरीर में कहां रहता है? क्या वह सम्पूर्ण शरीर व्यापी है अथवा एकदेशी? यदि वह शरीरव्यापी है तो शरीरान्तर देहान्तर के समय क्या सदृशाकार शरीर को ही प्राप्त करता है? यदि नहीं, तब पूर्व से बृहत् (बड़े) अथवा लघु (छोटे) शरीर के साथ उसका सामञ्जस्य किस प्रकार होता है?

मनीषियों के चिन्तन का निष्कर्ष है कि- 1. आत्मा महत् परिमाण है। 2. आत्मा मध्यम परिमाण है। 3. आत्मा-अणु परिमाण-परिच्छिन्न है।

आत्मा को महत् परिमाण या विभु स्वीकार करने पर अनेकत्व (आत्मा अनेक हैं।) का अवकाश नहीं रहता और यदि अनेकत्व स्वीकार किया जाए, जब वह (एकाधिक विभु होने के कारण) एक दूसरे को आवृत करते रहेंगे। इस स्थिति में कर्मफल व्यवस्था बन पाना असम्भव प्रायः है। मध्यम परिमाण मानने पर शरीराकार होने से देहान्तर के समय कर्मानुसार लघु

अथवा बृहत् शरीर प्राप्ति पर तदाकार होने से उसका परिमाण निश्चित नहीं हो सकेगा। क्योंकि प्रत्येक देहान्तर पर वह परिवर्तित होगा ही। इन दोनों परिमाणों के स्वीकार करने पर उसके (आत्मा के) स्थान निर्धारण का अवकाश नहीं रहता।

आत्मा-जीव के परिच्छिन्न एकदेशी स्वीकार करने पर ही शरीर में उसके स्थान निर्धारण का प्रसंग उपस्थित होता है। 'हृदि ह्येष आत्मा'-प्रश्नोपनिषद् 3.6 आदि उपनिषद् वचन आत्मा का स्थान हृदय प्रदेश निर्धारित करते हैं। हृदय शब्द से मनुष्य के वक्षप्रदेश में प्राय: वामपार्श्व (अपवाद स्वरूप यह वक्ष के दाहिने भाग में भी होता है।) में स्थित रक्त प्रक्षेपक Heart, दिल का ग्रहण होता है। किन्तु चिकित्सा विज्ञान के सफलतापूर्वक हृदय प्रत्यारोपण प्रयोग ने (किसी व्यक्ति का हृदय ले, उसे अन्य व्यक्ति में प्रत्यारोपित करने)आत्मा का स्थान वक्षस्थ हृदय मानने वालों के समक्ष चुनौती प्रस्तुत कर दी है, क्योंकि तब तो प्रत्यारोपण के साथ ही आत्मा भी बदल जाएगी, किन्तु आत्मा के ज्ञानादि गुणों का परिवर्तन न होने (हृदय प्रत्यारोपण के पश्चात् भी व्यक्ति की स्मृति तथा पूर्वसम्बन्धों/माता-पिता, पति-पत्नी आदि सगे सम्बन्धी से सम्बन्धित व्यवहार भी पूर्ववत् रहता है। इसमें कोई अन्तर नहीं देखा जाता है।) से स्पष्ट होता है कि प्रत्यारोपण से पूर्ववर्ती आत्मा ही प्रत्यारोपण के पश्चात् भी स्थित है। अत: आत्मा का स्थान शरीर में कहीं अन्यत्र होना चाहिए।

वेद एवं उपनिषद् आदि के अनुसार यह दूसरा हृदय शिरस्थ है। यही आत्मा का स्थान है। आर्य जगत् के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब (लाहौर) के महोपदेशक स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती (पूर्वनाम पं. पूर्णचन्द्र आर्य, बड़ौत) ने

वक्षस्थ हृदय को आत्मा का स्थान मानने वाले स्वामी आत्मानन्द सरस्वती, पं. राजवीर शास्त्री तथा आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री की मान्यता की समालोचना की है। स्वामी जी ने वेद, उपनिषद् के प्रमाणों के साथ ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका उपासना विषयान्तर्गत अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म .... छा. उ. 8.1-1 के हिन्दी अनुवाद को भी अपनी विवेचना में सम्मिलित किया है। इस विवेचन के आधार पर आत्मा का स्थान शिरस्थ हृदय प्रदेश है।

बोधपर्व (शिवरात्री 2074 वि०) –डॉ. वेदपाल

14 फरवरी 2018, मेरठ

लेखक का संक्षिप्त जीवन परिचय

भारतीय एवं वैदिक धर्म के -

सच्चे सन्देश वाहक " श्री पं० पूर्णचन्द्र आर्य"

(स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती)

पं० पूर्णचन्द्र आर्य का जन्म 13 मार्च सन् 1900 को बागपत जिले (पूर्व मेरठ) के ग्राम बूढ़पुर में चौ. लज्जाराम के परिवार में हुआ था। यह परिवार अपनी देशभक्ति व वैदिक सिद्धान्तों के लिए पिछली शताब्दी से इस क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान रखता रहा है। पंडित पूर्णचन्द्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा बड़ौत जाट वैदिक स्कूल में हुई। एस.एल.सी. की परीक्षा उन्होंने मेरठ कालेज से उत्तीर्ण की। पंडित जी का विवाह सन् 1925 में श्रीमती यशोदा देवी से हुआ। परिवार में तीन पुत्र, बड़े स्व. श्री यशोवर्धन शास्त्री (पूर्व प्रधानाचार्य सरूरपुर, खेड़की), श्री वेद प्रकाश तोमर (पूर्व चकबन्दी अधिकारी व भाजपा नेता), स्व. डा. शिवराज सिंह तथा एक पुत्री श्रीमती शकुन्तला हुए। श्री पूर्णचन्द्र जी ने श्रीमद् दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर से सिद्धान्त भूषण उपदेशक की उपाधि ली तथा वहां रहकर भारत के शीर्ष क्रांतिकारियों एवं स्वतन्त्रता सेनानियों के सम्पर्क में रहे। उनके जीवन का मुख्य मोड़ आता है सन् 1921 में जब उनका चयन पुलिस सब इंस्पेक्टर जैसे रौबीले पद पर हो गया तथा कृषक परिवार को आजीविका का अच्छा सहारा मिल गया, परन्तु महात्मा गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन की अग्नि आपसे अछूती न रही और आपने साबरमती आश्रम जाकर गांधी जी के चरणों में बैठकर देश सेवा तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति की सौगन्ध ली और अंग्रेज सरकार की पुलिस

की नौकरी को लात मार दी, तत्पश्चात् पूरा जीवन राष्ट्र सेवा, आर्य समाज व वैदिक सिद्धान्तों के लिये न्यौछावर कर दिया। सन् 1921 में आपको 3 मास की कैद, 1931 में नमक कानून तोड़ने पर 10 माह का सश्रम कारावास झेलना पड़ा। 1937 तथा 1944 में हैदराबाद सत्याग्रह में जोर शोर से हिस्सा लिया। हरियाणा की जींद तहसील से सौ सत्याग्रहियों का जत्था लेकर वहां आन्दोलन किया व जेल गये। कश्मीर में 1948 में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने आपको हिन्दुओं का मनोबल बढ़ाने हेतु वहाँ भेजा। पंडित जी करीब नौ भाषाओं के ज्ञाता थे तथा वैदिक साहित्य पर पूरी पकड़ थी, कुरान, गीता उन्हें कंठस्थ याद थी। कुरान के ऊपर व्याख्या करने वाला उस वक्त आर्य समाज में आपके अलावा दूसरा नहीं था।

1950-1960 के दशक में पं. पूर्णचन्द्र आर्य जी का मेरठ की ऐतिहासिक बुढ़ाना गेट आर्य समाज से गहरा सम्बन्ध रहा है। पंडित पूर्णचन्द्र जी उपदेशक के रूप में अपने पाण्डित्य की छाप यहाँ छोड़ते गये, दूर-दूर से आर्यजन उनकी निर्भीक, ओजस्वी एवं विलक्षण वाणी सुनने यहाँ आया करते थे। यहीं रहकर उन्होंने ब्रह्मकुमारी समाज के खिलाफ एक जन आन्दोलन का भी नेतृत्व किया था। यहीं से आपने आर्य स्त्री समाज बुढ़ाना द्वार के प्रयास से एक पत्रक "ब्रह्मकुमारियों के षड्यंत्र से सावधान" छपवाकर इलाके में बंटवाया तथा ब्रह्मकुमारी समाज के संस्थापक लेखराज का चिट्ठा खोला।

राष्ट्र-सेवा व परोपकार की जो सौगन्ध खायी उसके बदले उन्होंने कभी राजनीतिक इच्छा जाहिर नहीं की। कई बार बागपत जिले के विधानसभा प्रत्याशी बनाने की कांग्रेस की इच्छा को

नकार दिया तथा अपने प्रिय मित्र चौ. चरण सिंह जी जो उन्हें अग्रज की भांति सम्मान देते थे, को बागपत क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्थापित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आप छूआछूत व जात-पात के घोर विरोधी थे। हरिजन उत्थान के लिए लगातार प्रयासरत रहते थे। गांव में दलितों को अपने कुंऐ पर पानी भरने की इजाजत दिलवा रखी थी। शुद्धि आन्दोलन के रूप में आप द्वारा किया गया प्रयास जिसमें जिवाना गुलियान के एक मुस्लिम परिवार को शुद्ध कर अपने परिवार की बेटी से शादी की और आज यह परिवार पूर्ण रूप से सम्पन्न है। पंडित जी की करनी व कथनी में कोई लेशमात्र का भी अन्तर नहीं था। क्षत्रिय परिवार में पैदा होने पर भी इनकी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य से प्रभावित होकर सब ने आपको पंडित जी की उपाधि दी। आपने पूरा जीवन स्वामी दयानन्द के आदर्शों पर चलते हुए 17 जनवरी, 1971 को जनता वैदिक इन्टर कॉलिज के विशाल प्रागंण में हजारों लोगों के सम्मुख चौ. चरण सिंह जी की अध्यक्षता में स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती जी से संन्यास आश्रम में प्रवेश कर स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती कहलाये। सन्यास आश्रम में रहते हुये आपने अपना पूरा समय अध्ययन, चिंतन व लेखन में लगा दिया। जहां भी आपको वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत बातें पता चली आपने तुरन्त अपनी लेखनी उठा ली। पहली पुस्तक उन्होंने बरनावा के पाखण्डी कृष्णदत्त ब्रह्मचारी की पोल खोलते हुये लिखी "पोल प्रकाश", दूसरी आधुनिक वैज्ञानिक कसौटी पर सिद्ध "वृक्ष जीवधारी है"। तीसरी शोधात्मक पुस्तक "योगी का आत्मचरित्र एक षड़यन्त्र है" लिखी, जिसमें ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर श्री दीनबन्धु शास्त्री, आनन्द स्वामी एण्ड कम्पनी

द्वारा रचित पुस्तक "योगी का आत्मचरित्र" कोरी बकवास व पाखण्ड साबित होती है। चौथी पुस्तक है "मानव शरीर और जीवात्मा" कुछ अन्य अप्रकाशित पुस्तकें जैसे "मुसलमान भाईयों से बिरादराना अपील" एवं "दयानन्द व उनका योग" तथा ईसा की मृत्यु का रहस्य भी है।

पं. पूर्णचन्द्र आर्य (स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती) जी ने अपना पूरा जीवन वैदिक सिद्धान्तों पर चलते हुए 20 दिसम्बर सन् 1985 को अन्तिम सन्देश देते हुए कहा "ऋषि दयानन्द जी महाराज के बताये रास्ते पर चलना" तथा **ओ३म्** का उच्चारण करते-करते चिर निद्रा में विलीन हो गये।

आज भी इस आर्य परिवार की पाँचवी पीढ़ी भी देशभक्ति, समाज सेवा व आर्य परम्पराओं को पल्लवित व पोषित कर रही है। परिवार ने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी के साहित्य को पुनः आर्य जगत् के सम्मुख प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आशा है इस पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार प्रसार से ऋषि दयानन्द के पावन जीवन की सुरक्षा हो सकेगी।

प्रथम संस्करण का सम्पादकीय वक्तव्य

आर्य विद्वानों में इस विषय पर मतभेद चला आ रहा है कि मानव-शरीर में आत्मा का स्थान छाती वाले हृदय में है या शिरस्थ हृदय में? इस आध्यात्मिक समस्या को सुलझाने का महान् प्रयास श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने प्रस्तुत पुस्तक में किया है। महर्षि दयानन्द जी ने भौतिक प्रसंग में हृदय शब्द का अर्थ जहाँ वक्षस्थल में रक्त-प्रक्षेपक हृदय माना है, वहीं पर आध्यात्मिक प्रसंगों में हृदय शब्द के अर्थ किये हैं—शिरस्थ हृदय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण आदि। श्रद्धेय श्री स्वामी जी ने मेरी व अन्य सज्जनों की प्रार्थना को स्वीकार कर इस विषय पर यह पुस्तक लिखने की महती कृपा की है।

प्रस्तुत पुस्तक श्री स्वामी जी ने समय-समय पर तीन भागों में लिखी है। मैंने इन तीनों भागों को ज्यों का त्यों ही इस पुस्तक में प्रकाशित करा दिया है। अति वृद्धावस्था में भी श्री स्वामी जी के द्वारा किया गया यह महाप्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इस पुस्तक के प्रथम भाग में आर्य समाज के नियम तथा वेदादि को आधार बनाकर आत्मा के स्थान को हृदय में दिखाया गया है और श्री स्वामी जी ने सिद्ध किया है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषदों के प्रमाणों का हिन्दी अर्थ किसी पौराणिक पण्डित के द्वारा लिखा गया प्रतीत होता है। इस प्रक्षिप्त हिन्दी विवरण से ही आर्यों में यह भ्रान्ति फैल गई है कि आत्मा का स्थान छाती प्रदेश में ही है।

दूसरे भाग में श्री स्वामी जी ने लक्षण और प्रमाणों के द्वारा अपने पक्ष को प्रमाणित किया है और आत्मा के स्थान का लक्षण बताया है कि वहाँ से ही मुख्य एक सौ एक नाड़ियाँ निकलती हैं। नाड़ी-विज्ञान के विस्तृत विवेचन के बाद प्रत्यक्ष विज्ञान के द्वारा भी नाड़ियों का केन्द्र एवं हृदय शिर में ही सिद्ध किया है। इसी भाग में व्याकरण द्वारा भी जीव व आत्मा शब्द का विवेचन प्रस्तुत हुआ है तथा उपनिषद् भाष्य पर श्री भीमसेन शर्मा के विचारों की भी युक्ति-युक्त समीक्षा की गई है।

पुस्तक के तीसरे भाग में इस विषय पर आर्यों में चल रहे दोनों पक्षों को लेकर प्रमाणों आदि के द्वारा वास्तविक तथ्य को सिद्ध किया गया है। श्री स्वामी जी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों द्वारा भी इस विषय के कुछ लेखों के आधार पर इसी पक्ष को कई प्रकार से प्रमाणित किया है कि "जीवात्मा का स्थान शिरोभाग में ही है।"

स्वामी जी के विषय में कई आर्य विद्वानों की सम्मतियाँ उन उदात्त गुणों की अभिव्यक्ति करती हैं जो आपके जीवन में विद्यमान रहे हैं। डा० भवानीलाल भारतीय ने आपको महर्षि दयानन्द के जीवन-वृत्त का 'मर्मज्ञ' विद्वान् कहा है। महर्षि दयानन्द के जीवन के तथ्यों से आपका घनिष्ठ परिचय जानकर ही प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु (अबोहर वाले) ने दयानन्द सन्देश के दिसम्बर 1983 के अंक में प्रकाशित एक लेख में आपके विषय में लिखा है—

"मुझे हर्ष है कि ऋषि-जीवन पर एक अत्यन्त अधिकारी विद्वान् ने आदित्यपाल सिंह जी की रचना पर बड़ी योग्यता से समीक्षात्मक तथ्यपूर्ण लेखनी चलानी प्रारम्भ की है।"

जिन दिनों आप आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक थे उन दिनों सभा के प्रधान महाशय कृष्ण जी ने अन्तरंग सभा के एक प्रसंग में कहा था कि—'हमें गर्व है कि आज भी हमारी सभा में पण्डित लेखराम जी की तरह उच्च परम्पराओं व आदर्शों से युक्त श्री पूर्णचन्द्र जी शास्त्री जैसे आर्योपदेशक हैं। आप जीवन भर आर्य सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। आपने अपना एक आदर्श परिवार बनाकर समाज के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। आपने 85 वर्ष के अपने जीवन में वर्णाश्रम धर्म का पूर्णत: पालन किया है।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त व आर्य-समाज के सजग प्रहरी बनकर रहे हैं। जहाँ भी आर्य सत्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा हुई वहाँ स्वभावत: आप चिन्तित हुये तथा परिपक्व ज्ञान व अथक परिश्रम के द्वारा उन सिद्धान्तों की रक्षा में पूर्ण शक्ति लगाई। इसी के परिणाम-स्वरूप कई पुस्तकें आपने लिखीं व अपने ही धन से प्रकाशित कराकर उनका निशुल्क

वितरण किया, क्योंकि आपके जीवन का उद्देश्य सत्य-सिद्धान्तों का प्रचार कराना रहा, न कि धन कमाना। आपकी उन प्रकाशित पुस्तकों का विवरण इसी पुस्तक के अन्त में प्रकाशित किया गया है।

आज भी इतनी वृद्धावस्था में आर्य ग्रन्थों के स्वाध्याय और आर्य सिद्धान्तों के लेखन में स्वामी जी का परिश्रम देखकर हम आश्चर्य चकित रह जाते हैं। अपने जीवन में स्वामी जी की मुख्यतम विशेषता यह रही है कि आप अनुचित प्रकार से समझौता करके किसी भी प्रकार की लौकैषणा के इच्छुक नहीं रहे। सत्य का प्रतिपादन करने में आपने कभी कोई रियायत नहीं की, अत: अनेक लोगों की आपसे नाराजगी भी हुई।

मैं जब से आर्य समाज से परिचित हुआ हूँ तथा जो कुछ भी आर्य-सिद्धान्तों को जान पाया हूँ वह सब आपकी ही कृपा व सद्प्रेरणा का फल है जिसके लिये मैं आजीवन आपका कृतज्ञ रहूँगा।

कई वर्षों तक आपके प्रति निकट सम्पर्क में रहने से आपके जीवन के अनेक गुण मेरे हृदय-पटल पर अंकित हैं, परन्तु आपकी रुचि व स्वभाव को जानते हुये मैं आपके विषय में और अधिक लिखने में संकोच कर रहा हूँ।

प्रभु से आपकी आयु व स्वास्थ्य की प्रार्थना करते हुये मैं भी आपके उदात्त गुणों का कुछ अंश जीवन में ग्रहण करने की अभिलाषा रखता हूँ, आपकी कृपा एवं आशीर्वाद उस अभिलाषा को अवश्य पूर्ण करेंगे इसी विश्वास के साथ—

निष्पक्ष पाठकों से यही आशा और विश्वास रखता हूँ कि ये सत्य को ग्रहण करते हुये इस विषय पर मतैक्य स्थापित करके श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी के परिश्रम को सफल करेंगे।

आषाढ़ शुक्ल, पूर्णिमा 2041 वि०

– रामकुमार आर्य
पुरोहित, आर्यसमाज
फील्डगंज, लुधियाना

प्रथम संस्करण का प्रकाशकीय

पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व महाभारत के भयानक युद्ध के कारण यहाँ देश और धर्म की भारी अवनति हुई। धर्म की जगह अनेक बुराईयाँ पैदा हुई और विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ। वेद-ज्ञान के अभाव में आत्म-तत्त्व की खोज व आत्मा के उत्थान की बातें विलीन हो गईं। शारीरिक सुख को लक्ष्य मान कर जड़ प्रकृति की पूजा की जाने लगी। कई सदियाँ इस घोर पतन में बीत गईं तभी ईश-अनुकम्पा से एक पावनतम आत्मा ने भारत में जन्म लेकर आत्मा, परमेश्वर और वेदों के गहन रहस्यों को जानकर ऋषिवर ने मानव-कल्याण के लिये प्रकट किया। उसी महान् ऋषि दयानन्द ने वैदिक ज्ञान के प्रचार व प्रसार के लिये आर्य समाज रूपी मंगलमयी संस्था की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द ने आत्मा, परमात्मा व प्रकृति सम्बन्धी सभी सत्य सिद्धान्तों का प्रकाश स्व-रचित ग्रन्थों में कर दिया तथा वेदादि धर्म-ग्रन्थों के प्रमाण सहित बहुत कुछ लिख दिया। परन्तु महान् आश्चर्य की बात है कि आर्य समाज ने एक शताब्दी के समय में भी कई महत्त्वपूर्ण विषयों में आज तक एक मत स्थापित नहीं किया है। ऐसा ही एक विषय उलझा रहा है, ''शरीर में आत्मा का स्थान कहाँ है? जहाँ परमात्मा की प्राप्ति हो सके।'' हम आर्य बन्धु यदि आत्मा की खोज जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को हल नहीं कर पाये तो फिर संसार का कल्याण कैसे कर पायेंगे? जो कि आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है।

विद्वान् लेखक श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने प्रस्तुत समस्या का अत्यन्त सार-गर्भित ढंग से समाधान किया है। इसके लिये मैं पूज्य

श्री स्वामी जी की दीर्घायु की कामना करते हुये हृदय से उनका अत्यन्त आभार प्रकट करता हूँ, साथ ही मैं उन दानी महानुभावों का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होनें इस आध्यात्मिक पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहायता प्रदान की है।

मैं आदरणीय पण्डित श्रीरामकुमार जी आर्य, (पुरोहित आर्य समाज फील्ड गंज) का धन्यवाद करना भी अत्यावश्यक मानता हूँ जिन्होनें प्रस्तुत पुस्तक का न केवल सम्पादन ही किया है, बल्कि धन भी एकत्रित करके सभा को दिया, उनका परिश्रम सराहनीय रहा है। श्री तिलकधर शास्त्री (सम्पादक आत्म-रश्मि, लुधियाना) जी ने मुद्रण एवं संशोधन में हमें अपना महत्त्वूपर्ण योगदान दिया है, इसके लिये उनका भी मैं आर्य युवक सभा की ओर से आभारी हूँ।

हम आर्य युवकों का साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रचार कार्य का यह प्रथम ही प्रयास है। इसलिये प्रयत्न के बाद भी यदि कोई त्रुटि नजर आये तो पाठक जनों से क्षमा प्रार्थना करते हुये यही आशा करता हूँ कि पाठक जन अपने बहुमूल्य सुझाव देकर हम युवकों को प्रोत्साहित करेंगे। इसी विश्वास के साथ यह पुस्तक धर्म-जिज्ञासुओं की सेवा में समर्पित कर रहा हूँ।

–रोशनलाल आर्य

प्रधान—आर्य युवक सभा, लुधियाना

आर्य युवक सभा
के पदाधिकारी एवं सदस्य

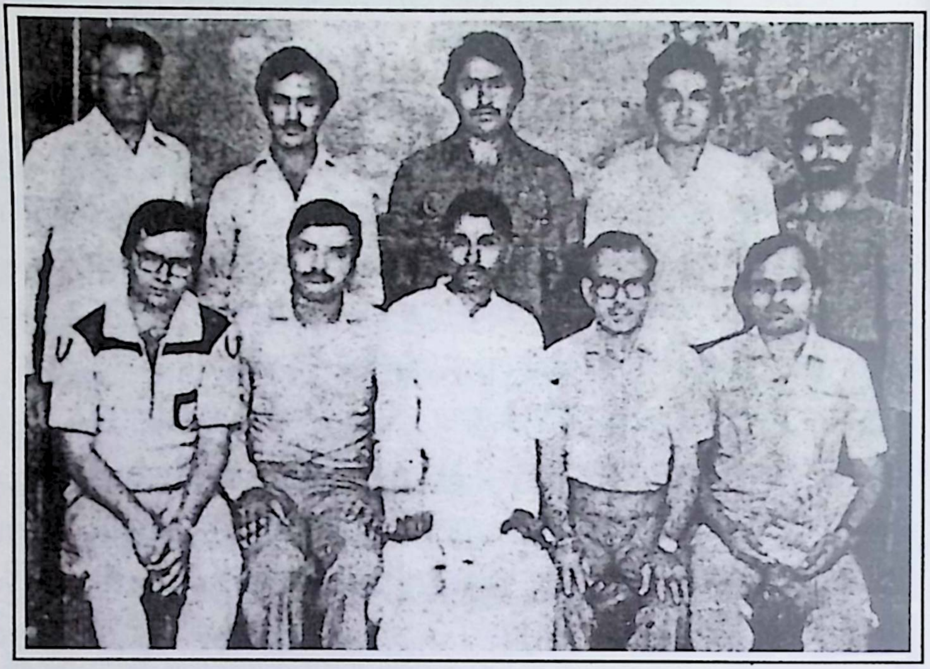

बाएं से दायें कुर्सियों पर बैठे हुए :

श्री सुधीर भाटिया (भूतपूर्व प्रधान), श्री रोशन लाल शर्मा (प्रधान), पं० राम कुमार आर्य (उपदेशक), श्री महेन्द्र प्रताप आर्य (महामन्त्री), श्री सुरेन्द्र आर्य (कोषाध्यक्ष)।

पीछे खड़े कार्यकर्त्ता:

सदस्य—श्री यशपाल आर्य, श्री सुरेश चड्ढा, श्री जगदीश शर्मा, श्री अरुण कुमार शर्मा, श्री राजेन्द्र बत्रा।

ओ३म्

मानव-शरीर और जीवात्मा

1

मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान

मानव-शरीर में जीवात्मा के स्थान को जानने की रुचि अधिकतर आर्य समाजी सज्जनों में ही देखी जाती है। इसका कारण यह है कि आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी ने आर्य लोगों को आर्य समाज के दस नियमों का पालन करना अनिवार्य बतलाया है। उन दस नियमों में से तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और सातवाँ नियम ऐसे हैं जिनमें सत्य को जानने की अभिरुचि और सत्य के आधार पर ही अपने सब काम और व्यवहार का करना आर्यत्व का चिह्न माना गया है।

सत्यता का परम कोष चार वेद हैं। उनके लिये ऋषि ने तीसरे नियम में कहा है—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

चौथे नियम में कहा गया है कि "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।"

पाँचवें नियम में कहा गया है कि "सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।"

सातवाँ नियम यह है कि "सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।"

जीवात्मा को शरीर में खोजने के लिये भी इन्हीं नियमों का पालन करना आवश्यक है। अपने किसी आग्रह को लेकर आत्मा के निवास-स्थान का निर्णय करना आर्यों के लिए उचित नहीं है। महर्षि दयानन्द के अनुसार सब आर्यों को वेदों में कही सब सत्य विद्याओं को मानकर इस विषय में एक-मत होना चाहिये।

महर्षि मनु ने भी इसी सच्चाई का समर्थन किया है। मनुस्मृति के अध्याय 2 श्लोक 6 में लिखा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

—मनु०2।6

अर्थात् सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और वेदों के जानने वालों की स्मृति, शील, साधु पुरुषों का आचरण और अपनी आत्मा की तुष्टि भी धर्म का मूल है।"

इसलिये सत्य के (धर्म के) मूल को वेद में ही खोजना चाहिये और जानना चाहिये कि मानव-शरीर में आत्मा का निवास कहाँ है?

अथर्व वेद के दसवें काण्ड के आठवें सूक्त का ऋषि कुत्स है। इसका देवता (विषय) आत्मा है। इस सूक्त में 44 मन्त्र हैं। नवम मन्त्र में लिखा है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्,
तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं,
ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥

इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार से किया गया है—

एक (तिर्यग् बिलः) तिरछे मुख और (ऊर्ध्व-बुध्नः) ऊपर को पेन्दे वाला (चमसः) चमस है। (तस्मिन्) उसमें (विश्वरूपम्) नाना रूप (यशः) भूतिमान् बल (निहितम्) रक्खा है। (तत्) वहाँ उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषिद्रष्टा, सात शीर्षगत प्राण (साकम्) एक होकर (आसत) विराजते हैं। (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक या द्वारपाल के समान उसको आवरण किये हुये या घेरे हुये (बभूवुः) हैं।

शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है—

अर्वाग् बिलश्चमस उर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एव ह्यर्वाग्बिलश्चमस उर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपं-प्राणा वै यशो विश्वरूपं तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे। प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह।''

बृहदारण्यक अ० 2/2/3/4

यह शिर वह 'चमस' वा पात्र है जिसका बिल मुख एक तरफ तिरछे खुला है और पैन्दा—कपाल ऊपर है। उसमें यशोरूप प्राण रखे हैं। उस पात्र के किनारे-किनारे सात ऋषि, सात प्राण, दो कान—गौतम और भारद्वाज, दो चक्षु—विश्वामित्र और जमदग्नि, दो नासिका—वशिष्ठ और कश्यप और मुख अत्रि, ये सात ऋषि विराजते हैं जो इसके (आत्मा के) 'गोपा' पहरेदार हैं और उसको घेरे हुये हैं।''

भाष्यकार जयदेव शर्मा विद्यालंकार

यह अथर्व वेद का प्रमाण है जिसको स्वीकार करना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है। इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने की है जिसमें जीवात्मा का निवास-स्थान स्पष्ट रूप से शिर को ही बतलाया गया है और इस आत्मा के पहरेदार या सेवक के रूप में सात इन्द्रियों का स्थान भी 'शिर' को ही बतलाया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि अथर्ववेद के और प्रमाणों से भी की जा सकती है। उनको भी देखिये।

अथर्व वेद के दशम काण्ड में ही एक सूक्त है जिसका नाम है "केन सूक्त"। यह सूक्त इस काण्ड का दूसरा सूक्त है। इस सूक्त में 33 मन्त्र हैं। इस सूक्त का ऋषि (द्रष्टा) नारायण है।

इस सूक्त का 'देवता' अर्थात् प्रतिपाद्य विषय 'पुरुष' है अर्थात् इसमें पुरुषदेह की रचना और उसके कर्त्ता पर विचार किया गया है। यह विचार प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है।

इस सूक्त का प्रारम्भ 'केन' शब्द से होता है। 'केन' शब्द के दो अर्थ होते हैं—

पहला अर्थ 'किससे', यह सर्वनाम-संज्ञक 'किम्' शब्द की तृतीया विभक्ति के एक वचन का प्रश्नात्मक रूप है और दूसरा अर्थ 'कः' वै प्रजापतिः' क प्रजापति का नाम है। उस शब्द का भी तृतीया विभक्ति में 'केन' रूप बनता है जिसका अर्थ 'परमात्मा से' है और यही प्रश्न का उत्तर है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य,
केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।

केनाङ्गुली: पेशनी: केन खानि,

केनोच्छ्लङ्खौ मध्यत: क: प्रतिष्ठाम्।

—10।2।1

भाष्य—(पुरुषस्य) अर्थात् मनुष्य या प्राणी की देह के (पार्ष्णी) दोनों एड़ियाँ (केन) किसने (आभृते) बनाई हैं? और (मांसं) मांस (केन) किसने (संभृतं) देह में अच्छी तरह लगाया है? (गुल्फौ केन) दोनों टखने किसने लगाये हैं? (पेशनी:) पोरुओं वाली नाना अवयवों से युक्त (अङ् गुली: केन) अङ् गुलियां किसने जोड़ दी हैं? (खानि) गुदा आदि छिद्र (केन) किसने बनाये (उत् श्ल-ङ् खौ) दोनों कपालियाँ किसने बनाई हैं? (मध्यत:) बीच में (प्रतिष्ठाम्) बैठने के लिये नितम्ब भाग (केन) किसने बनाया है?

उत्तर मिलता है—"केन" अर्थात् प्रजापति ने।

इस सूक्त में मानव-शरीर की रचना में एक क्रम है और वह क्रम यह है कि रचना का क्रम पैर की एड़ी से प्रारम्भ होता है और शिर के कपाल पर जाकर समाप्त होता है। पहले मन्त्र से लेकर तीसरे मन्त्र तक एड़ियों से लेकर दोनों जाँघों, दोनों कूल्हों और मल-मूत्र के छिद्रों तक की रचना का वर्णन है। चौथे और पाँचवें मन्त्र में शरीर के मध्य भाग की रचना का वर्णन है। जिस में छाती अस्थियों, गले की अस्थियों, हँसली, दोनों स्तनों, दोनों बाहुओं, कन्धों का मेरुदण्ड के साथ जुड़ने का वर्णन किया गया है। इससे आगे छटे मन्त्र से लेकर आठवें मन्त्र तक शिरोभाग में रहने वाले अङ्गों की रचना का वर्णन है। छटा मन्त्र इस प्रकार है—

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि,

कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।

येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि,

चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्॥

भाष्य—(कः) कौन देव (शीर्षणि) शिर भाग में (सप्त खानि) सात इन्द्रियों के छिद्रों को (विततर्द) विशेष रूप से गढ़कर बनाता है और कौन (इमौ कर्णौ) इन दोनों कानों को (नासिके) इन दो नाक के छिद्रों और (चक्षणी) इन दो आँखों और (मुखं) इस मुख को किसने बनाया (येषां) जिनके (विजयस्य मह्मनि) विजय की महिमा–महान् सामर्थ्य में (पुरुत्रा) बहुत से (चतुष्पदः) चौपाये और (द्विपदः) पक्षीगण और दोपाये मनुष्य भी (यामम्) अपना जीवन–मार्ग (यन्ति) तय करते हैं।''

इस से आगे सातवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा,

महीमधि शिश्राय वाचम्।

स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो,

वसानः क उ तच्चिकेत॥

भाष्य—जो देव (हन्वोः) दोनों जबड़ो के बीच में (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) रखता है और वहाँ ही वह (पुरूचीम्) सर्वव्यापक (महीम्) बड़ी भारी (वाचम्) वाक् शक्ति को (अधिशिश्राय) स्थापित करता है। (सः) वह (भुवनेषु) लोकों के (अन्तः) भीतर व्यापक (अपः वसानः) समस्त जीवों, प्राणियों, कर्मों, ज्ञानों और मूल प्रकृतिरूप कारण परमाणुओं में भी व्यापक है (क उ) कौन (तत्) उसको (चिकेत) जानता है।''

आठवां मन्त्र इस प्रकार है—

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं,
ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य,
दिवं रुरोह कतमः स देवः॥

भाष्य—(यतमः) जो देव (अस्य) इस पुरुष देह के (मस्तिष्कम्) मस्तिष्क को, (ललाटम्) ललाट—माथे को और (यः) जो देव (प्रथमः) सब से पहले है वह (ककाटिकाम्) गले की घण्टी और (कपालम्) कपाल खोपड़ी को और (पूरुषस्य) पुरुष देह के (हन्वोः) जबड़ों के बीच की (चित्यम्) रचना को (चित्वा) बनाकर (दिवः) प्रकाश स्वरूप द्यौः या मोक्ष पद में (रुरोह) व्याप्त हुआ है (सः) वह (देवः) देव (कतमः) कौनसा है?'' (या वह सब से अधिक सुख वाला है)।

उपर्युक्त आठ मन्त्रों में मनुष्य देह के एड़ी से लेकर सिर के कपाल तक के स्थूल अंगों की रचना का वर्णन है। उन अंगों को आँखों से देखा जा सकता है और हाथों से छुआ जा सकता है। इन अङ्गों में दस इन्द्रियों की रचना भी दिखाई गई है। तीन इन्द्रियाँ—पैर, पायु और उपस्थ धड़ से नीचे के भाग में है। एक इन्द्रिय (दोनों हाथ) धड़ के दोनों ओर है और छः इन्द्रियाँ शिरोभाग में है। दस इन्द्रियों में पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। जिन इन्द्रियों के रहने के छिद्र या द्वार दृष्टिगोचर होते हैं वे 'खानि' के नाम से कहे गये हैं। इस रचना में नौ खानि बतलाई गई हैं। दो खानि ऊरू (पायु और उपस्थ) शरीर के अधोभाग में और सात खानि (छिद्र) शिरोभाग में हैं। नासिका,

चक्षु और कर्ण इन तीन इन्द्रियों के छ: छिद्र हैं और मुख में एक रसना अर्थात् जिह्वा। इस प्रकार से शिरोभाग में चार ज्ञानेन्दियाँ और एक जिह्वा (वाक्) कर्मेन्द्रिय है। एक पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा है जो सारे शरीर में व्याप्त है, उसका कोई एक स्थान नहीं है, यह शरीर के बाहर भी है और अन्दर भी है, इसलिये इसकी रचना का वर्णन सूक्ष्म तत्त्वों की रचना में होना चाहिये।

मन को भी इन्द्रिय कहा गया है, परन्तु बाह्य इन्द्रिय नहीं और न ही इन्द्रियों के समान उसका अधिष्ठान दृष्टिगोचर होता है। अत: उसका वर्णन आगे सूक्ष्म तत्त्वों में किया जायेगा। इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इन मन्त्रों में इस देह की रचना के साथ इन्द्रियों की भी रचना होती है। जिसको हमने आँखों से देखा है, परन्तु यह दीखने वाला तो इन्द्रियों का अधिष्ठान है।

इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं जिनको इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है। इस देह की रचना से पहले भी इन्द्रियाँ जीवात्मा के साथ रहती थीं। इस देह में जीवात्मा के साथ इन्द्रियाँ भी प्रवेश करती हैं और जीवात्मा के साथ इस देह के शिरोभाग में रहती हैं। इस देह को छोड़ने पर जीवात्मा के साथ इन्द्रियाँ भी निकल जाती हैं।

इसी मन्त्र की पुष्टि में इसी काण्ड के आठवें सूक्त के नवम मन्त्र में शिरोभाग की एक पात्र से उपमा देकर इन्द्रियों को सात ऋषियों का नाम देकर मस्तिष्क में रहने वाले महान् आत्मा (जीवात्मा) का द्वारपाल बताया गया है। इन्द्रियों को ऋषि कहने का कारण यह है कि "**ऋषिर्दर्शनात्**" ऋषि देखने वाले को कहते हैं। बाहर के सब विषयों का ज्ञान जीवात्मा को पाँच

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही होता है। इसलिये अथर्ववेद 10|8|9 मन्त्र में इन्द्रियों को सात ऋषियों के नाम से पुकारा गया है। यजुर्वेद के 34वें अध्याय के 55वें मन्त्र में भी इन्द्रियों को ऋषयः कहा गया है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।"

इसका भाष्य महर्षि दयानन्द जी ने इस प्रकार किया है—

"जो (सप्त ऋषयः) विषयों अर्थात् शब्दादि को प्राप्त कराने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि ये सात ऋषि इस शरीर में (प्रतिहिताः) प्रतीति के साथ स्थिर हुये हैं वे ही सात (अप्रमादम्) जैसे प्रमाद अर्थात् भूल न हो वैसे (सदम्) ठहरने के आधार शरीर की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं।

इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन की स्थिति अथर्ववेद 10|2|6 और 10|8|9 मन्त्रों के प्रमाण से शिरस्थ देश में दिखलाई जा चुकी है। अब यह दिखलाया जाता है कि शिरोदेश में भी उनका विशेष स्थान कौन सा है? अथर्ववेद के काण्ड 19 सूक्त 9 मन्त्र 5 में लिखा है—

इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि। यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥

अर्थ—ये जो पाँच इन्द्रियाँ मन सहित छ हैं इन को ब्रह्म ने मेरे हृदय में अच्छी प्रकार से स्थापित किया है, इन्हीं के द्वारा घोर दुःख उत्पन्न होता है, इन्हीं से हम सब को शान्ति मिले।

इस मन्त्र में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन की स्थिति हृदय में बताई गई है। अथर्ववेद के 10वें काण्ड में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन की स्थिति कही गई थी और इसी वेद के 19वें काण्ड में इन

की स्थिति हृदय में कही गई है, इसलिये निष्कर्ष यह निकला कि हृदय भी शिरस्थ देश में है। इसलिये वेद हमें यही सिखलाता है कि जीवात्मा का निवास-स्थान उस हृदय में है जो शिरस्थ कपाल में रहता है।

इस विषय पर बल देते हुये अथर्ववेद काण्ड 10 के दूसरे सूक्त के 26, 27 मन्त्रों में कहा गया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः।।

10। 2।26।।

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।

तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः।।

10।2।27।।

अर्थः—(अथर्वा) प्रजापति परमात्मा (अस्य) इस पुरुष के (मूर्धानम्) सिर को (हृदयं च) और हृदय को (संसीव्य) अच्छी प्रकार सीकर (यत्) जब (मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः) मस्तिष्क से ऊपर और (शीर्षतः) सिर के भी ऊपर (पवमानः) प्राणरूप होकर स्वयं समस्त देहों को (प्रैरयत्) गति दे रहा है।''

अर्थः—(वा) अथवा (अथर्वणः) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ (तत्) वह (शिरः) शिर ही (देव-कोशः) देव-कोश, देव अर्थात् इन्द्रियों का आवरणीय निवास स्थान (सम् उब्जितः) बना हुआ है। (तत्) उस (शिरः) शिर को (प्राणः) प्राण (अभिरक्षति) चारों ओर से रक्षा करता है और (अन्नम् अथो मनः) अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं।''

इन मन्त्रों से यही सिद्ध होता है कि मनुष्य का सिर ही सब इन्द्रियों, मन, हृदय, प्राण, ज्ञान और आत्मा का केन्द्र या निवास-स्थान है।

आयुर्वेद का सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ चरक संहिता भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। चरक-संहिता के सूत्रस्थान अध्याय 17 में लिखा है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।

यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥

—चरक सूत्र-स्थान अ० 17

अर्थात्—प्राणधारियों के प्राण जहाँ रहते हैं और जहाँ सारी इंद्रियाँ भी रहती हैं, जो अंगों में सर्वोत्तम अंग है उसको शिर कहा जाता है।,

प्राचीन आयुर्वेद सम्बन्धी शास्त्रों में भेल संहिता भी आर्ष संहिता कही जाती है, उसमें भी लिखा है—

शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रिय-परं मनः।

तत्रस्थं तद्धि विषयेन्द्रियाणां,

रसादिकान् समीपस्थान् विजानाति॥

भेल संहिता, चिकित्सा-स्थान

अर्थ—सब इन्द्रियों में प्रधान मन सिर और तालु के बीच रहता है, वह समीप में रहने वाली इन इन्द्रियों के रसों (विषयों) को अच्छी प्रकार से जानता है।''

प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों में 'वाग्भट्ट' नाम के एक अति प्रसिद्ध आचार्य ने 'अष्टाङ्ग हृदय' नाम के अपने ग्रन्थ में लिखा है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखं ऋषयः पुरुषं विदुः।
मूल प्रहारिणस्तस्माद् रोगांश्छीघ्रतरं जयेत्॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येनाश्रिताः स्थिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥

अष्टांग हृदय

अर्थ—ऋषि लोग पुरुष (मनुष्य) को ऊपर मूल (जड़) वाला और नीचे की ओर शाखा वाला मानते हैं, इसलिये जड़ में (सिर में) होने वाले रोगों को शीघ्र ही काबू में कर ले, क्योंकि सिर ही समस्त इन्द्रियों और सब प्राणों का आश्रय है, इसलिये इस उत्तमाँग की रक्षा में सर्वाधिक प्रयत्न करे।''

अब प्रश्न उठता है कि जब वेद आदि में जीवात्मा का स्थान शिर में रहने वाले हृदय में है तो कुछ आर्य बन्धु रक्त-प्रक्षेपक हृदय में जीवात्मा का स्थान क्यों मानते हैं? इस प्रश्न का उत्तर वे बन्धु लोग यह देते हैं कि हम वेद को नहीं जानते, हम तो महर्षि दयानन्द के प्रमाण को ही वेद का प्रमाण मानते हैं। उन्होनें स्वयं ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के उपासना-विषय में उपनिषदों का प्रमाण देते हुये छान्दोग्य उपनिषद् के प्र० 8 ख० 1 मन्त्र 1 को उद्धृत किया है, मन्त्र यह है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् तदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वा विजिज्ञासितव्यमिति॥

छा० उ० 8।1।1॥

स्वामी जी ने इस मन्त्र का यह अर्थ किया है—

जो जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसे प्राप्त करना चाहे वे उस समय यह जाने कि—(अथ यदिदं) कंठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है, उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर तथा भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उनके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।''

इस मन्त्र के अर्थ पर जब कोई विद्वान् पुरुष ध्यान पूर्वक विचार करता है तो वह यही अनुभव करता है कि यह अर्थ महर्षि दयानन्द का किया हुआ नहीं है। यह अर्थ किसी पौराणिक पण्डित का है जो ऊपर से अपने आपको ऋषि का भक्त कहता था, परन्तु प्रच्छन्न रूप से ऋषि के वेदभाष्यों और ग्रन्थों में गड़बड़ कर देता था। इस मन्त्र के अर्थों में भी उसने यही अनर्थ किया है। मन्त्र का सीधा और शुद्ध अर्थ यह होता है—

''जो इस ब्रह्मपुर में छोटा सा कमल गृह है, उस कमल गृह के अन्दर भी अल्प आकाश है, उसके जो बीच में है उसकी खोज करनी चाहिये और उसी को जानना चाहिये।''

परन्तु पौराणिक पण्डित ने—''यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'' वाक्य का अर्थ यह किया है—''कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच

में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है।' यह जो मन्त्र के पहले वाक्य का हिन्दी में अर्थ किया गया है वह सर्वथा झूठा और अनर्गल अर्थ है। मन्त्र में कण्ठ, स्तन, उदर हृदय, नगर, ऊपर तथा ऊँचे परमेश्वर आदि का संकेत तक भी नहीं है, इसको लिखने वाले को विशेषण विशेष्य और कर्त्ता कर्म, करण आदि कारकों का भी बोध नहीं था ऐसा इस हिन्दी अनुवाद पढ़ने से प्रतीत होता है।

क्या कोई स्वस्थ मस्तिष्क वाला निष्पक्ष व्यक्ति इस अनर्गल और बिना सिर पैर वाले अर्थ को उपर्युक्त उपनिषद् सन्दर्भ का अनुवाद कह सकता है? उपनिषद् के सन्दर्भ में कौन सा ऐसा शब्द है जिस से "दोनों स्तनों के बीच में कंठ से नीचे और उदर से ऊपर हृदय देश है" यह अर्थ निकलता है? और वह कौन सा शब्द है जिसका अर्थ सर्वशक्तिमान् और आनन्द स्वरूप अर्थ निकलते हों? उपनिषद् के दहर शब्द का अर्थ गर्त कैसे कर लिया? उपनिषद् में दहर शब्द दो जगह आया है—एक जगह पुण्डरीक वेश्म के विशेषण में 'दहर' दूसरी जगह आकाश शब्द का विशेषण 'दहर' है। यह विशेषण है, विशेष्य नहीं। विशेषण के लिंग वचन और विभक्ति विशेष के अनुसार होते हैं। वेश्म शब्द नपुंसक लिंग है, इसलिये विशेषण दहरं कहा गया। आकाश पुल्लिंग है, इसलिये उसका विशेषण 'दहर:' लिखा गया है। परन्तु किसी अधकचरे पण्डित ने 'दहर' शब्द का अर्थ गर्त्त कर दिया और जो 'वेश्म' शब्द का विशेषण था उसको सप्तमी विभक्ति कहकर 'वेश्म' शब्द अधिकरण बना दिया। कोई भी बुद्धि रखने वाला व्यक्ति व्याकरण के सूर्य महान् तार्किक महर्षि दयानन्द को इस हिन्दी अनुवाद का कर्त्ता नहीं कह सकता।

महर्षि दयानन्द ने उपासना-योग की विधि, योग-दर्शन के व्यास-भाष्य के आधार पर उपासना-योग के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के और उसके साक्षात्कार की पूर्ण विधि लिखकर उसके प्रमाण में उपनिषदों के कुछ मन्त्रों को लिखा है। मन्त्रों के अर्थ सरल थे, इसलिये उनके संस्कृत भाष्य की आवश्यकता नहीं समझी, उनका हिन्दी भाषा में अनुवाद किसी पण्डित से करवा दिया और स्वामी जी को फिर उन लेखों को देखने का अवसर नहीं मिला। उनके निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् आर्यों ने भी अच्छी प्रकार से देख-भाल नहीं की, इसलिये वह पाठ आज तक भी ऋषि दयानन्द के नाम से छपता चला आ रहा है।

ऐसा मानने के लिये हमारे पास क्या प्रमाण है कि यह लेख किसी पौराणिक पण्डित का है? इस का प्रमाण यह है कि महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-योग विषय में योग-शास्त्र के सूत्रों की व्याख्या में महर्षि वेद व्यास के भाष्य को ही प्रमाण माना है। इसके अतिरिक्त दूसरे भाष्यकारों के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। पातञ्जल योग दर्शन के व्यास भाष्य के दो सूत्रों का व्यास भाष्य यहाँ उद्धृत किया जाता है, इसके साथ ही दो पौराणिक विद्वानों के भाष्यों को भी उद्धृत किया जा रहा है।

सूत्र ये हैं—

(1) विशोका वा ज्योतिष्मती। यो० 1।36

(2) हृदये चित्त संवित्। यो० 3।34

इनका व्यास भाष्य—(1) **हृदये पुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरं आकाशकल्पं।''** अर्थात्

हृदय-कमल में धारणा करने से जो बुद्धि का ज्ञान होता है, वह निश्चयात्मिका सात्त्विक बुद्धि आकाश के समान प्रकाश वाली है।

(2) यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्त संवित्–अर्थात् जो यह ब्रह्मपुर में सूक्ष्म सा कमल के समान गृह है उसमें विज्ञान है। इसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

अब व्यास भाष्य के इन सूत्रों की टीका पौराणिक विद्वान् वाचस्पति मिश्र द्वारा तत्त्व वैशारिदी टीका में लिखा गया है—

हृदय पुण्डरीक इति–उदरोरसयोर्मध्ये यत् पद्ममधो मुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचक-प्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्।

योग० 1।36

अर्थ—पेट और छाती के मध्य में जो अष्टदल कमल रूप हृदय नीचे की ओर मुख करके ठहरा हुआ होता है वह रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुख वाला हो जाता है, वहाँ चित्त को लगाना चाहिये।

(2) **हृदये चित्तसंवित्–हृदय पदं व्याचष्टे, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे बृहत्त्वात् आत्मा ब्रह्म तस्य पुरं निलयः। तद्धि तत्र विजानाति स्वमिति दहरं गर्त तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म मनसः।**

योग० 3।34

अर्थ—'हृदये चित्त संवित्' सूत्र की व्याख्या—जो यह इस ब्रह्मपुर में—बड़ा होने से आत्मा ब्रह्म है उसका नगर घर है।

वहाँ ही उसको जाना जाता है कि मैं हूँ। दहर अर्थात् गड्ढा वह ही हृदय नीचे मुख वाला मन का घर है।''

इन्हीं उपर्युक्त दोनों सूत्र की 'योग-वार्तिका' टीका 'विज्ञान भिक्षु' द्वारा इस प्रकार की गई है—

(1) अन्तः करणस्य चेयं योगप्रोक्ता प्रक्रिया- उदरोरसयो र्मध्ये यत् पद्मम् तिष्ठति अधो मुखमष्टदलं तत्र रेचक प्राणायामेनोर्ध्वमुखं कृत्वा तस्मिन्नालम्बेन चित्तं धारयेत्॥

अर्थ—और यह अन्त:करण की योग में कही हुई प्रक्रिया है कि पेट और छाती के बीच में जो अष्ट-दल हृदय-कमल नीचे मुख करके ठहरा हुआ है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर मुख वाला करके उस में चित्त का संयम करे।

(यो० 1।36)

(2) **हृदय-पदं व्याचष्टे। यदिदमिति अस्मिन्ब्रह्मणः परमात्मनो जीवस्य च पुरे शरीरस्य यदिदं दहरं सगर्त पुण्डरीकाकारं ब्रह्मणो वेश्म तत्र विज्ञानवृत्तिकमन्तः करणं ब्रह्मणः कल्पं तिष्ठति। अतस्तस्मिन् हृदयाख्ये वेश्मनि संयमाच्चित्तसाक्षात्कारो भवति।**

अर्थ—हृदय पद को कहते हैं—यदिदं—इसमें ब्रह्म का—परमात्मा का और जीवात्मा के पुर में शरीर का जो 'दहर' सगर्त कमल के आकार वाला ब्रह्म का घर है वहाँ विज्ञान की वृत्ति वाला अन्त:करण ब्रह्म रूप ठहरा हुआ है, इसलिये उस हृदय नाम वाले घर में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है।

पातञ्जल योग-शास्त्र के उपर्युक्त दो सूत्रों के व्यास-भाष्य को उद्धृत करने का कारण यह है कि व्यास ऋषि ने इस भाष्य

में उपनिषद् के उसी मन्त्र का पूर्वार्ध उद्धृत किया है जिस मन्त्र का ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-योग में हिन्दी अनुवाद किया गया है। योग-दर्शन के 1|36 सूत्र के भाष्य में व्यास जी ने 'हृदय पुण्डरीक' का लक्षण यह किया है कि उसमें बुद्धिसत्त्व रहता है और निश्चय से बुद्धि-सत्त्व आकाश के समान प्रकाशमान है। योग-दर्शन के 3|34 सूत्र के भाष्य में लक्षण यह है कि इस ब्रह्मपुर में जो यह सूक्ष्म या छोटा सा कमलाकार गृह है इसमें विज्ञान (बुद्धिसत्त्व) है। इस लक्षण में ब्रह्मपुरे सप्तमी विभक्ति है और दहरं, पुण्डरीकं और वेश्म प्रथमा विभक्ति में हैं। अत: ये तीनों ब्रह्मपुर के बीच में रहते हैं और पुण्डरीक वेश्म के अन्दर बुद्धिसत्त्व रहता है जो प्रकाश के समान प्रकाशमान है, परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जो हिन्दी अनुवाद है वह व्यास-भाष्य के सर्वथा प्रतिकूल है। महर्षि व्यास के भाष्य की टीका करने वाले दो पौराणिक पण्डितों—वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु ने उक्त सूत्रों की जो टीका की है उनका ही अनुवाद ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषद् मन्त्र का हिन्दी अनुवाद है। पौराणिक पण्डितों की टीकाओं की प्रतिलिपि ऋषि दयानन्द जैसे मनीषी कदापि नहीं कर सकते थे।

पौराणिक पण्डितों ने हृदय के जो लक्षण किये हैं वे व्यास-भाष्य से सर्वथा भिन्न हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं—छाती और पेट के बीच में जो अष्टदल कमल (हृदय) नीचे को मुख वाला ठहरा हुआ है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुख वाला किया जाता है।.........जो इस ब्रह्मपुर में बड़ा होने से आत्मा—ब्रह्म...उसके घर में.........दहर गढ़े को कहते हैं, वही नीचे मुख वाला कमल-गृह है।

यह सारा कथन व्यास-भाष्य के विरुद्ध है। ऋषि व्यास ने कहीं पर भी ईश्वर के रहने का घर नहीं माना। वेदान्त शास्त्र महर्षि व्यास की ही रचना है, उसमें यही सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसका कोई रंग-रूप नहीं। भाष्य में ब्रह्मपुर का वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि यह ब्रह्म के रहने का घर है, बल्कि इसलिये किया गया है कि मनुष्य के शरीर में ही ब्रह्म की उपासना और भक्ति हो सकती है, दूसरे प्राणियों के शरीरों में परमात्मा का चिन्तन नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य के शरीर को ही ब्रह्मपुर कहा है। इस मनुष्य-शरीर में दहर अर्थात् छोटा सा कमल-गृह है, इस कमल गृह में अति सूक्ष्म तत्त्व बुद्धि-सत्त्व है, बुद्धि-सत्त्व में जीवात्मा, जीवात्मा के अन्दर परमात्मा व्यापक है। इसलिये आत्मा और परमात्मा की खोज बुद्धि-सत्त्व के अन्दर करनी चाहिये।

आकाश के समान प्रकाशमान पदार्थ बुद्धि-सत्त्व ही है। परमात्मा में ज्ञान रूप प्रकाश है, भौतिक प्रकाश नहीं। सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला परमात्मा ही है, इसलिये उसको प्रकाश स्वरूप कहते हैं, परन्तु ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में उपनिषद् के हिन्दी अनुवाद में पौराणिक पण्डित ने व्यास जी के भाष्य के विरुद्ध और पौराणिक पण्डितों की टीकाओं को ठीक मान कर लिख दिया कि "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमात्मा का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् आकाश रूप एक स्थान है, उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर तथा भीतर एक रस होकर

भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है।

पौराणिक पण्डितों की टीकायें ऋषि व्यास के भाष्य के विरुद्ध होने से मानने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि महर्षि दयानन्द ने स्वयं ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के "ग्रन्थ प्रमाण्याप्रामाण्य विषय" में स्पष्ट कहा है कि पातञ्जल योग सूत्रों का व्यास-भाष्य ही प्रामाणिक है। इसी बात को ऋषिवर ने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में दोहराया है। इसलिये छान्दोग्य उपनिषद् के 8|1|1 मन्त्र में वर्णित हृदय का स्थान छाती प्रदेश में नहीं। स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है—

सृष्टि-उत्पत्ति स्थिति प्रलय विषय—"देखो शरीर में किस प्रकार की ज्ञान-पूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देख कर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत, फेफड़े, पंखा कला का स्थापन, रुधिर-शोधन-प्रचालन, विद्युत् का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूल रचना, लोम नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातुओं का विभाग, कला-कौशल-स्थापन आदि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है?"

सत्यार्थ प्रकाश आर्य लोगों के लिये महर्षि दयानन्द का सर्वोत्कृष्ट और विश्वसनीय ग्रन्थ माना जाता है, उस सत्यार्थ प्रकाश के इस संदर्भ में ऋषि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मानव शरीर की मूल रचना शिर से हुई है। सांख्य दर्शन, प्राचीन

आयुर्वेद शास्त्र और आधुनिक विज्ञान का यह निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा का प्रवेश मातृ-गर्भाशय में गर्भाधान के साथ ही हो जाता है। जीवात्मा के लिये अथर्ववेद 10|8|25 में—"**बालादेकमणीयस्कं**" अर्थात् जीवात्मा बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है।' और 10|8|28 में कहा गया है—

"**एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः**"

अर्थात् "यह जीवात्मा बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और अन्तः करण से आवेष्टित सब से पहले माता के गर्भ में प्रवेश करता है।"

वेद के इस सिद्धान्त को लेकर ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में अपने मत की स्थापना की है कि मानव-शरीर में शिर ही मूल रचना है और इस मूल रचना में जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर अर्थात् 13 करणों के साथ शिरस्थानीय हृदय-गुहा में रहता है। ऋषि के इस स्पष्ट कथन से आर्यों के उस भ्रम का उच्छेदन हो जाना चाहिये कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में जीवात्मा का निवास-स्थान रक्त-प्रक्षेपक हृदय में बताया है।

मैं यह बतला चुका हूँ कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्र का हिन्दी में अनुवाद वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु के अनुयायी भीमसेन शर्मा जैसे किसी छद्मवेशी पौराणिक का किया हुआ है और अन्ध विश्वासी आर्यों ने उस लेख को महर्षि दयानन्द का ही मान लिया है।

इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि आध्यात्मिक सर्वश्रेष्ठ साहित्य को ही पौराणिक रंग में रंगना प्रारम्भ कर दिया। जिन आर्य समाजी लोगों ने उपनिषदों का भाष्य किया उन्होनें उपनिषदों के मौलिक रूप को बिगाड़ कर पौराणिक और रूढ़िवाद का जामा पहना दिया।

उपनिषद् साहित्य को वेदान्त कहा जाता है, इसका कारण यही है कि वेद का सर्वोत्तम और अन्तिम लक्ष्य यही है कि ईश्वर और जीव के स्वरूप को जानकर उसके प्राप्त करने के लिये ही सृष्टि के सब पदार्थों का उपयोग किया जाये। इसलिये उपनिषदों का वेदों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु आर्य समाजी पण्डितों ने वेद का प्रमाण न मानकर स्वामी शंकराचार्य जैसे पौराणिक लोगों का अनुकरण किया है।

❑❑❑

2

जीवात्मा शरीर के किस प्रदेश में रहता है?

शरीर में जीवात्मा के निवास-स्थान का पता लगाने से पहले यह स्पष्ट होना चाहिये कि जीवात्मा कौन है? 'जीवात्मा' शब्द दो पदों से मिलकर बना है—"जीव + आत्मा, अर्थात् जीव सहित आत्मा", जब जीव के साथ संयुक्त होकर आत्मा रहता है तो उस अवस्था में आत्मा को 'जीवात्मा' के नाम से पुकारा जाता है। सांख्य दर्शन में बतलाया गया है कि जीव से विशेषित होने के कारण आत्मा में जीवत्व की संज्ञा लागू होती है। सांख्य का सूत्र इस प्रकार है—

'विशिष्टस्य जीवत्त्वमन्वयव्यतिरेकात्' 6।62।।

अर्थात् "बुद्धि आदि सहित आत्मा का जीव होना कहा जाता है अन्वय-व्यतिरेक से"। अन्वय उसे कहते हैं जिसके होने से किसी वस्तु की सिद्धि होती है और व्यतिरेक उसको कहते हैं जिसके न होने से उस वस्तु की सिद्धि नहीं होती। महर्षि पाणिनि के धातु-पाठ में "जीव धातु" का अर्थ "बल प्राण धारणयो:" है। अर्थात् बल और प्राण-धारण के अर्थ में जीव-धातु का प्रयोग होता है। इसलिये आत्मा के प्राण धारण करने से आत्मा को जीव या जीवात्मा कहा जाता है। जीव या प्राण धारण न करने से आत्मा जीवात्मा नहीं कहा जायेगा। प्राण तीन अन्त: करणों और दस बाह्य करणों की सामान्य वृत्ति कहलाता है। इसलिये आत्मा उसी अवस्था में जीव कहा जाता है जब वह 13 करणों के सम्पर्क में रहता है। इन

करणों का आत्मा के साथ सम्पर्क आवेष्टन के रूप में होता है। यह आवेष्टन आत्मा को घेरे रहता है, इसलिये इसको आत्मा का घर या शरीर कहा जाता है। ये 13 करण इस नाम से कहे जाते हैं—बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। ये 13 करण प्रकृति के सबसे पहले कार्य हैं, अर्थात् बुद्धि प्रकृति का सब से पहला कार्य है। बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्रायें और मन तथा 10 इन्द्रियाँ ये 13 करण और पाँच तन्मात्रायें अत्यन्त सूक्ष्म हैं, इस लिये इद्रियों का विषय नहीं हैं। इसलिये पाँच तन्मात्राओं सहित करणों का यह आवेष्टन जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर कहलाता है। इस सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का संयोग आदि सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही हो जाता है। इस संयोग का कारण आत्मा का अविवेक ही होता है। इस संयोग के पश्चात् ईश्वरीय व्यवस्था से माता-पिता के संयोग से आत्मा को दूसरा शरीर मिलता है। यह शरीर स्थूल होता है, क्योंकि पाँच स्थूल भूतों के संयोग से यह शरीर बनता है। अब यह आत्मा जीवात्मा कहलाता है।

इसके दो शरीर हो जाते हैं। पहला सूक्ष्म शरीर और दूसरा स्थूल शरीर। जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किये हुये था उसी प्रकार दूसरे स्थूल शरीर ने सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा को आवेष्टित कर लिया। इसलिये प्रश्न उठता है कि स्थूल शरीर में कौन सा प्रदेश है जिसमें जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर सहित निवास करता है? उत्तर मिलता है—"हृदय प्रदेश ही जीवात्मा का घर (निवास) है।"

वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति और गीतादि शास्त्र एकमत हो कर उच्च स्वर से कहते हैं कि हृदय-देश ही ऐसा स्थान है जहाँ जीवात्मा का निवास है और उसी स्थल में जीवात्मा अपने प्रियतम प्रभु का साक्षात्कार करता है।

परन्तु इतने स्पष्ट मतैक्य होने पर भी वेदादि शास्त्रों को प्रमाण मानने वाले आर्य लोगों में ही इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। एक दल कहता है कि आत्मा उस हृदय में रहता है जो रक्त-प्रक्षेपक है और जो कण्ठ से नीचे और नाभि से ऊपर दोनों स्तनों के बीच में है।

दूसरे दल का मत है कि जिस हृदय में आत्मा का निवास है वह शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क में रहने वाला है। आर्य लोगों की इस द्विविधा को सुलझाने के लिये महर्षि दयानन्द के उस सिद्धान्त को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये जो सत्य और असत्य को जानने और निर्णय करने के लिये उन्होनें सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में मोटे अक्षरों में लिखा है। ऋषिवर ने सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास में वेद, मनुस्मृति, योग-दर्शन, आयुर्वेद शास्त्र, तैत्तिरीयोपनिषद्, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के प्रमाणों से सत्यासत्य के निर्णय का वर्णन करते हुये लिखा है—"इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें अन्यथा विद्यार्थी को सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें उस-उस को पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो सत्य ठहरे वह वह ग्रन्थ पढ़ावें, जो जो इन परीक्षाओं से विरुद्ध हो उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें, न पढ़ावें क्योंकि—"**लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तु-सिद्धिः**" लक्षण—जैसे कि "गन्धवती पृथ्वी" जो पृथ्वी है वह गन्ध वाली है, ऐसे लक्षण प्रत्यक्षादि प्रमाण इन से सत्यासत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है, इसके बिना कुछ भी नहीं होता।"

महर्षि दयानन्द जी के इस सिद्धान्त को कसौटी पर परखने से उपनिषदों में कहे हुये उस हृदय-स्थल का ठीक-ठीक पता चलाया जा सकता है। उपनिषदों में आये हुये हृदय शब्द के जो

लक्षण लिखे हैं उनको बड़े ध्यान से देखना चाहिये और उन लक्षणों की सत्यता प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द आदि प्रमाणों से जानना चाहिये।

वे लक्षण कौन-कौन से हैं?

उपनिषदों में आत्मा के निवास वाले हृदय के जो लक्षण किये गये हैं वे निम्न प्रकार से हैं—

लक्षण 1—हृदय के ऐसे लक्षणों में सबसे पहला और मुख्य लक्षण शरीर की नाड़ियों का मूल स्थान होना है। इसका उल्लेख कठ, प्रश्न, मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यकादि उपनिषदों में विस्तार से किया गया है।

1—कठोपनिषद् में नाड़ियों का वर्णन इस प्रकार है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वङ्ङन्या:उत्क्रमणे भवन्ति।।

कठो० 6 वल्ली मन्त्र 16

अर्थात् एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं। उनमें एक मूर्धा को (सिर का ऊपरी भाग) गई है। उस ऊपर वाली नाड़ी से आता हुआ आत्मा अमृत पद को पाता है। दूसरी नाड़ियों में रहने वाले दूसरी गतियों में जाते हैं।

2-प्रश्नोपनिषद्-हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकै कस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्त्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।।

प्रश्नोपनिषद् 3।6

अर्थात् यह देह में रहने वाला आत्मा हृदय में रहता है, यहाँ हृदय में ये एक सौ एक नाडियाँ हैं, उन 101 मुख्य नाडियों की

सौ-सौ शाखा नाड़ियाँ हैं। उन शाखा नाड़ियों में से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर सहस्त्र प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं, उनमें व्यान विचरता है।

3—मुण्डकोपनिषद्–अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येव ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ 2.2.6.

अर्थ—रथनाभि में अरों की भान्ति जहाँ नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं, वहाँ हृदय में वह यह आत्मा अनेक विकासों से भीतर प्रकट होता है। ओ३म् ऐसे उस आत्मा का ध्यान करो। अज्ञानान्धकार से परे पार उतरने के लिये तुम्हारा कल्याण हो।''

4—छान्दोग्योपनिषद्–तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाड़ीषु सृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति। 8.6.3

अर्थ—जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ, सम शान्त और प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता, उस समय वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट हो जाता है। उस काल में उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है, आत्मज्योति से युक्त होता है।

तदेष श्लोकः—

5— शतञ्चैका च हृदयस्य,
नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्ङन्या,
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ 8.6.6

अर्थ—हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा में चली जाती है, उसके द्वारा ऊपर गया हुआ आत्मा मोक्ष को प्राप्त

हो जाता है। अन्य नाड़ियाँ मरने के समय नाना योनियों के मार्ग वाली होती हैं।

छान्दोग्य प्रपाठक 8 खण्ड 6

तो जब यह सोया हुआ मनुष्य सब विषयों से उपरत, अत्यधिक प्रसन्न, मलों से रहित, स्वप्न को नहीं जानता है उस समय वह आत्मा उन ही नाड़ियों में प्रविष्ट होता है।

फिर जिस अवस्था में यह आत्मा इस शरीर से निकल जाता है तो इन ही रश्मियों द्वारा ऊपर को जाता है, वह...सूर्य में पहुँच जाता है।

यहाँ यह श्लोक है—सौ और एक हृदय की नाड़ियाँ हैं।

6—बृहदारण्यक–अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्त्राणि हृदयात्पुरिततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरितति शेते।

2।1।19।।

यथा केशः सहस्त्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्ति। एताभिर्वा एतदास्त्रवदास्त्रवति। तस्मादेष प्रतिविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छरीरादात्मनः ।।4।2।3

ता वा अस्यैता हितानाम नाड्यो यथा केशः सहस्त्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णाः।।

बृहदारण्यक 4।3।20

इन खण्डिकाओं का अर्थ—स्वप्नावस्था के अनन्तर जब मनुष्य सुषुप्ति अवस्था में होता है तब वह किसी के भी सम्बन्ध में नहीं जानता है, उस समय यह होता है कि हिता नाम की

बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से निकल कर सारे शरीर में फैली हुई होती हैं, उनके द्वारा जीवात्मा स्वप्नावस्था में घूमने के पश्चात् पुरीतत नाड़ी में सो जाता है।। 2।1।19

हृदय के अन्दर हिता नाम की नाड़ियाँ ठहरी हुई होती हैं, वे इतनी सूक्ष्म होती हैं जितना केश का कटा हुआ भाग। इनके द्वारा यह हृदय शरीर के सब भागों से अमृत के समान ज्ञान-रस को लेता है उसके द्वारा यह हृदय आत्मा के लिये शरीर के आहार की अपेक्षा सूक्ष्म और पवित्र होता है। 4।2।3

जिन नाड़ियों के द्वारा जीवात्मा स्वप्न में विचरण करता है वे नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं और वे सफेद, नीले, पिङ्गल, हरे और लोहित रंगों से भरी होती हैं।। 4।3।20

जिस हृदय में आत्मा का निवास होता है उसका सब से मुख्य लक्षण या पहचान यह होती है कि उस हृदय के अन्दर 101 (एक सौ एक) नाड़ियाँ मुख्य रूप से अवश्य होती हैं और उनकी शाखायें बहत्तर हजार (72000) होती हैं जो हृदय से निकल कर शरीर में फैल जाती हैं उनकी भी शाखायें फैलती हैं जो मिलकर (727210201) तक होती हैं जो सारे शरीर में फैली होती हैं। इन नाड़ियों का विशेष नाम हिता रक्खा गया है। इन नाड़ियों का रंग भी विशेष होता है अर्थात् पिङ्गल, श्वेत, नीला, पीला हरा और लोहित होता है। इन नाड़ियों की रचना में सूर्य का विशेष योग होता है।

इन नाड़ियों के मूल उत्पत्ति-स्थान की परीक्षा कैसे हो?

हृदय की इन नाड़ियों की परीक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ही की जा सकती है, क्योंकि ये नाड़ियाँ भौतिक अर्थात् स्थूल शरीर का भाग होती हैं। स्थूल शरीर के सब भागों का बाहर भीतर से चीर-फाड़ द्वारा और ऐक्सरे द्वारा भी परीक्षण किया जा सकता

है और वर्तमान युग में तो हमारे देश में ही सैकड़ों परीक्षा-गृहों और पोस्टमार्टम सेन्टरों और हस्पतालों द्वारा रात-दिन शरीर के अन्दर और बाहर के छोटे से छोटे भाग की परीक्षा की जाती है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से उस स्थान का पता लगा लेना चाहिये जहाँ ऐसी नाड़ियों का उद्गम्—स्थान है और वहाँ से सारे शरीर में फैली हुई हैं।

परन्तु आर्य समाज के जिन विद्वानों ने उपनिषदों के भाष्य किये हैं, उन्होनें जीवात्मा के निवास-स्थान वाले हृदय के लक्षणों पर कुछ विचार नहीं किया और महर्षि दयानन्द के बतलाये हुये इस सिद्धान्त की "**लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तु-सिद्धिः**" अवहेलना की है। उन्होनें उपनिषदों के लक्षणों को पीछे डालकर अपने ही नये-नये लक्षण घड़ लिये हैं।

इन विद्वान्नों में सबसे पहले विद्वान् भीतसेन शर्मा हैं, जिन्होनें छान्दोग्य और बृहदारण्यक को छोड़ कर शेष 9 उपनिषदों का संस्कृत और आर्य भाषा में भाष्य किया है। उन्होनें इन भाष्यों में अपने पाण्डित्य की तो खूब छटा बिखेरी है, परन्तु उपनिषदों के वास्तविक सिद्धान्त को धूमिल कर दिया है। हृदय शब्द के जो लक्षण उपनिषदों के ऋषियों ने किये थे भीमसेन जी ने उनको बदलकर उनके स्थान में अपनी ओर से नये लक्षण घड़ कर रख दिये हैं। उनका आगे उल्लेख किया जाता है।

1. कठोपनिषद् की छठी वल्ली के मन्त्र 16 को देखें। उसमें उपनिषद्कार ने लिखा है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।

इस मन्त्र का भाष्य करने के लिये भीमसेन जी ने अपनी ओर से ये वाक्य जोड़े हैं—"मरणान्त समय योगी क्या करे सो कहते हैं। (हृदयस्थ) हृदय में ठहरने वाली, उपनिषद् में लिखा है

'हृदयस्य' अर्थात् 'हृदय की' परन्तु भीमसेन जी ने 'हृदयस्य' के स्थान पर 'हृदयस्थ' पाठ देकर अर्थ किया है "हृदय में ठहरने वाली।" आगे उपनिषद् में लिखा–**तासाम्मूर्धानमभिनिः सृतैका** अर्थात् उनमें से एक मूर्धा को निकली है, परन्तु भीमसेन जी ने उसको बदल कर लिख दिया—'(तासाम्)उनके बीच (एका) सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के (मूर्धानम्) मस्तिष्क में (अभिनिःसृता) जा निकली है।" याद रखना चाहिये कि उपनिषदों में सुषुम्णा नाम की कोई नाड़ी नहीं है। उपनिषदों में सभी नाड़ियों को हिता नाम से पुकारा गया है।

2. प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न के छठे मन्त्र—'**हृदि ह्येष आत्मा**' का भाष्य करते हुये भीमसेन जी ने लिखा—(हृदि) कमल के तुल्य आकार वाले (सुश्रुत के शरीर स्थान में लिखा है कि नीचे मुख वाला कमल के तुल्य हृदय है, वह जागते समय खुला रहता है और सोते समय कमल के तुल्य बन्द हो जाता है। मांस-पिण्ड रूप हृदय में (हि) ही (एष) यह रथ रूप शरीर का स्वामी या अभिमानी कि यह मेरा शरीर है (आत्मा) जीवात्मा रहता है।"

भीमसेन जी ने जिस हृदय के लक्षण किये हैं वह हृदय जीवात्मा का निवास-स्थान नहीं है, क्योंकि सारे उपनिषदों में जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय के ये लक्षण कहीं भी नहीं हैं। उपनिषदों में उस हृदय को न तो मांस—पिण्ड रूप कहा गया है और न नीचे मुख वाले कमल के तुल्य कहा है। यह भीमसेन की अपनी कल्पना है। 'सुश्रुत' के शरीर-स्थान में जो लक्षण कहा है वह रक्त-प्रक्षेपक मांस पिण्ड रूप हृदय का लक्षण नहीं। यदि सुश्रुत का विचार जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय का वर्णन करना होता तो वह सत्यवादी ऋषि उन लक्षणों को लिखता जो

औपनिषदिक ऋषियों ने लिखे हैं, अर्थात् उस हृदय में 101 नाड़ियों का होना अवश्य लिखते।

आगे भीमसेन शर्मा जी ने प्रश्नोपनिषद् के तृतीय प्रश्न को ऐसे भंवर च्रक में डाल दिया है जिससे न तो वह स्वयं कभी बाहर निकल सकता है और न ही अपने पाठकों को इस भंवर चक्र से पार कर सकता है। उन्होनें लिखा—(अत्र) इसी हृदय में (नाड़ीनाम्, एतत् एकशत) एक सौ एक नाड़ी हैं। यह बात कठोपनिषद् में भी कह चुके हैं (तासां) उन एक सौ नाड़ियों में एक-एक की (शतं शतम्) सौ-सौ शाखा नाड़ी फूटती हैं, अर्थात् जैसे मूल रूप वृक्ष की जड़ में स्कन्ध निकलते हैं वैसे मूल-एक सौ एक नाड़ियों में से एक-एक में सौ-सौ शाखा निकलती हैं, अर्थात् 101 के साथ 100 का गुणा करने से 10100 (दस हजार एक सौ) शाखा नाड़ी होती हैं। उन शाखा नाड़ियों (एकैकस्याम्) एक-एक के (द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्त्राणि भवन्ति) बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ होती हैं। भीमसेन जी ने कठोपनिषद् में कही हुई 101 नाड़ियों में से एक का नाम सुषुम्णा रक्खा था शेष 100 बेनाम की नाड़ियाँ रह गईं।

प्रश्नोपनिषद् में भी मुख्य नाड़ियाँ 101 ही हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक की 100 शाखायें हो गई और फिर उनमें से भी प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार शाखा नाड़ियाँ हो गईं। भीमसेन जी की कही हुई एक मात्र सुषुम्णा की शाखायें बहत्तर लाख सुषुम्णा नाड़ियाँ सारे शरीर में फैल गईं।

आगे उन्होनें लिखा—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्। 7।

भाषार्थ—(अर्थ) अब उदान वायु का कृत्य कहते हैं (उदान:) कण्ठ में विचरने वाला उदान नामक प्राण (एकया) 101 जो नाड़ी कही हैं उनमें सौ से ऊपर जो एक सुषुम्णा नामक नाड़ी है उसके साथ (ऊर्ध्व) नाभि से ऊपर की ओर उठता हुआ (पुण्येन) पुण्य कर्म से जीवात्मा को (पुण्यम्) सुख-भोग की उत्तम सामग्री से युक्त पवित्र (लोकम्) दर्शनीय स्थान और देवादि उत्तम योनि को (नयति) प्राप्त कराता है और (पापेन) पाप-कर्म के संचित होने से (पापम्) दु:ख की सामग्री और तिर्यगादि योनि को प्राप्त कराता है तथा (उभाभ्याम्) पुण्य-पाप दोनों के सम होने से (मनुष्य-लोकम्) (एव) मनुष्य योनि को ही प्राप्त कराता है।

कठवल्ली में कहा है—हृदय में 101 नाड़ियाँ हैं उनमें एक नाड़ी सीधी मस्तक में मूर्धा को चली गई है, इसी सुषुम्णा नाड़ी में उदान वायु विचरता है। यह नाड़ी मस्तक से लेकर पग के तलवे तक सीधी विस्तृत है, इसी हृदयस्थ नाड़ी के एक प्रदेश में जीवात्मा रहता है। इसी नाड़ी के साथ मन को युक्त करते हुये समाधि-निष्ठ योगीजन आत्म-ज्ञान को प्राप्त होते हैं। उदान नामक प्राण ही लिंग शरीर के सहित जीवात्मा को शरीर से निकालता है, तथा कर्मों के अनुसार योनि और भोग को प्राप्त कराता है।"

भीमसेन जी शर्मा ने प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न की 6, 7 कण्डिकाओं की व्याख्या में पाँच पृष्ठ तो भर दिये, परन्तु जीवात्मा के निवास हृदय के उन लक्षणों को छोड़ कर जिनका उपनिषद् में वर्णन है, उन्होनें अपने ही कपोल-कल्पित लक्षणों से पाँच पृष्ठ भर डाले। इन लक्षणों के लिये चार प्रमाणों में से एक भी प्रमाण को उपस्थित नहीं किया। उनकी इस कल्पना के

लिये कि "सुषुम्णा नाड़ी मस्तक से लेकर पग के तलवे तक सीधी विस्तृत है" क्या भीमसेन जी ने सुषुम्णा नाड़ी के सम्बन्ध में किसी शरीर-विज्ञान के पारंगत विद्वान् से पूछताछ करके निश्चय किया है? किसी बात को बिना प्रमाण के कहना कहने वाले की कल्पना मात्र या झूठ ही कहा जायेगा। पण्डित भीमसेन का यह कहना कि चोटी से लेकर एड़ी तक फैली हुई सुषुम्णा नाड़ी में उदान ही उदान भरा हुआ है सर्वथा झूठ है, क्योंकि उपनिषद् ने हृदय की एक सौ एक नाड़ियों की शाखाओं-प्रति-शाखाओं का वर्णन करते हुये लिखा है। "आसु **व्यानश्चरति**" उन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचरण करता है?

प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न में कौसल्य अश्वलायन ने पिप्पलाद महर्षि से प्राण-विद्या के सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी। उसके प्रश्न थे—

1. भगवन् यह प्राण किससे उत्पन्न होता है?

2. इस शरीर में कैसे आता है?

3. अपने आप को बाँट कर शरीर में कैसे रहता है?

4. किस द्वार से बाहर निकल जाता है?

5. कैसे बाहर के स्वरूप को धारण करता है और कैसे आत्मा को धारण करता है?

महर्षि पिप्पलाद ने जिज्ञासुओं को सन्तुलित और संक्षेप में पाँचों प्रश्नों के उत्तर देकर उनको सन्तुष्ट कर दिया। तीसरे प्रश्न में पूछा गया था कि "भगवन्! मुख्य प्राण अपने आपको बाँट कर शरीर में कैसे रहता है?" ऋषि ने उत्तर दिया कि मल-मूत्र के अवयवों में अपान को नियुक्त किया जाता है। चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका के लिये प्राण को नियुक्त किया जाता है।

शरीर के मध्य में अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान को नियुक्त किया जाता है।

उपर्युक्त तीन प्राणों के कार्यों और स्थानों का निरूपण करने के पश्चात् उपनिषद्कार ने व्यान की स्थिति को बताने से पूर्व शरीर के स्वामी जीवात्मा के निवास-स्थान हृदय-देश का निरूपण करना आवश्यक समझा। इसलिये उपनिषद्कार ने कहा—'**हृदि ह्येष आत्मा**' अर्थात् इस शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा निश्चय से इस शरीर के हृदय प्रदेश में रहता है। उस हृदय प्रदेश की पहचान या लक्षण बतलाना आवश्यक था। इसलिये परम ऋषि ने यह पहचान बताई—

अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ीसहस्राणि भवन्ति।

अर्थात् इस हृदय (की पहचान के लिये) में ये 101 नाड़ियाँ हैं और उनमें से प्रत्येक नाड़ी की सौ-सौ शाखा नाड़ियाँ हैं और इन शाखा नाड़ियों की भी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार से ऋषि ने आत्मा के निवास-स्थान हृदय के वैभव को बतलाया कि इस हृदय की बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख दस हजार दो सौ एक (727210201) नाड़ियाँ हैं। फिर ऋषि ने चौथे प्राण 'व्यान' के कार्य का वर्णन किया और कहा—'**आसु व्यानश्चरति**' अर्थात् इन सब नाड़ियों के अन्दर 'व्यान' विचरता है अर्थात् प्रबन्ध करता है।

पं० भीमसेन शर्मा जी ने प्रश्नोपनिषद् की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा (जीवात्मा के निवास-स्थान वाले हृदय की पहचान या लक्षण) को छोड़ कर अपनी ओर से नये लक्षण और नई कल्पनाओं से अपने भाष्य का कलेवर मात्र बढ़ाया है। बार-बार यह रट लगाना कि कमल के तुल्य आकार वाले

मांस-पिण्ड हृदय में जीवात्मा रहता है, वास्तविकता को सिद्ध नहीं करता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही सत्यता का परिचय मिलता है। उपनिषद् का ऋषि तो कहता है कि शरीर की समस्त नाड़ियों में व्यान नामक प्राण रहता है, परन्तु भीमसेन जी यह रट लगाते हैं कि उदान प्राण सुषुम्णा नाड़ी में पगतल से लेकर मस्तिष्क तक में रहता है।

उपनिषद् में उदान नामक प्राण के कार्य और स्थान के सम्बन्ध में इतना ही लिखा है कि—**अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्**, अर्थात् एक नाड़ी से ऊपर रहने वाला उदान नाम का प्राण (मरने के समय) पुण्यकर्म करने वाले व्यक्ति को पुण्यलोक में, पापकर्म करने वाले को पापयोनि में और पाप व पुण्य कर्म करने वाले व्यक्ति को मनुष्य-लोक में ले जाता है। (प्रश्नोपनिषद् 3.7) अपनी मौज में आकर भीमसेन जी ने यह भी लिख दिया कि—इसी हृदयस्थ नाड़ी (सुषुम्णा) के एक प्रदेश में जीवात्मा रहता है। इसी नाड़ी के साथ मन को युक्त करते हुये समाधिनिष्ठ योगीजन आत्मज्ञान को प्राप्त होते हैं।

❑❑❑

3

जीवात्मा के विषय में समीक्षात्मक विवेचन

मानव-शरीर में जीवात्मा के स्थान के सन्दर्भ में आर्य समाज के विद्वानों में दो पक्ष हैं। एक पक्ष वाले कहते हैं कि आत्मा का निवास छाती प्रदेश में दोनों स्तनों के बीच में नाभि से ऊपर व कण्ठ के नीचे है।

इस पक्ष को मानने वालों में दयानन्द सन्देश पत्रिका के सम्पादक श्री राजवीर शास्त्री मुख्य हैं। इस पक्ष वालों का ठोस आधार ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-विषय में उपनिषद् के प्रमाण का हिन्दी अर्थ है, जहाँ आत्मा का स्थान छाती प्रदेश में मान लिया गया है।

परन्तु कुछ विद्वान् ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उस हिन्दी अर्थ को प्रक्षिप्त (असत्य) मानते हैं। किसी अनुवादक पंडित ने वह पौराणिक मत ऋषि की भावना के विपरीत जोड़ दिया है, क्योंकि उपनिषद् के वाक्यों का वह अर्थ नहीं निकलता जो वहाँ लिखा है। इस हिन्दी लेख में पुनरुक्ति दोष भी पाया जाता है, क्योंकि ऋषिवर ने पतंजलि ऋषि के योग-दर्शन के 50 के लगभग मुख्य सूत्रों को उपासना विषय में लिखा है। इन सूत्रों के व्यास-भाष्य में योग के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है और अब अन्त में केवल उपनिषद् के प्रमाणों को पुष्टि के लिये दे दिया गया है। हिन्दी अर्थ में

पुनः उपासना का यह सर्वथा नया प्रसंग ऋषि दयानन्द जैसे मनीषी तथा व्याकरणाचार्य का प्रतीत नहीं होता। अतः इस प्रकार के विचारक इन आर्य विद्वानों का पक्ष यह है कि जीवात्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में ही है। इस दूसरे पक्ष के समर्थक श्री योगेन्द्र कुमार शास्त्री, श्री युधिष्ठिर जी मीमाँसक, श्री वीरेन्द्र जी पमार आदि मुख्य हैं। आर्य समाज में इन दोनों पक्षों की विद्यमानता में जीवात्मा के स्थान का निर्णय करने के लिये महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश में तीसरे सम्मुल्लास के कुछ निर्देश संकेत रूप में देखें—

"अब जो पढ़ना पढ़ाना हो वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पाँच प्रकार की होती है—

1. जो ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव और वेदों के अनुकूल हो वह-वह सत्य है।

2. सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो।

3. आप्तोपदेशानुकूल हो।

4. अपनी आत्मा के अनुकूल हो।

5. आठों प्रमाणों से सिद्ध होता हो।

महर्षि दयानन्द की इस कसौटी के अनुसार आर्य समाज के विद्वानों के इस पक्ष (जीवात्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में है) की परीक्षा अब वेद मंत्रों के आधार पर की जाती है—

यजुर्वेद अ० 36 मन्त्र 2 को देखें—

'यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः। इस मन्त्र का अर्थ लिखा है—

(यत् मे) जो मेरे (चक्षुषः) नेत्र का वा (हृदयस्य) अन्तःकरण की (छिद्रं) न्यूनता (वा) वा (मनसः) मन की (अतितृण्णम्) व्याकुलता है (तत्) उसको बृहस्पति बड़े आकाशादि का पालक परमेश्वर (मे) मेरे लिये (दधातु) पुष्ट वा पूर्ण करे (यः) जो (भुवनस्य) सब संसार का (पतिः) रक्षक है वह (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होवे ।।2।।

ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद अध्याय 32 में तीन मन्त्रों में लिखा है कि ईश्वर बुद्धि में देखा जाता है—

1—वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

यजु० 32।8

अर्थ—हे मनुष्यो! (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण (निहितम्) स्थित (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म को (वेनः) पण्डित विद्वान् जन (पश्यत्) ज्ञान-दृष्टि से देखता है।

2—प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।

यजु० 32।9

अर्थ—हे मनुष्यो! (यः) जो (गन्धर्वः) वेद-वाणी को धारण करने वाला (विद्वान्) पण्डित (गुहा) बुद्धि में (विभृतम्) विशेष धारण किये (अमृतम्) नाश-रहित (धाम) मुक्ति के स्थान (तत्) उस (सत्) नित्य चेतन ब्रह्म का (नु) शीघ्र (प्रवोचेत्) गुण कर्म स्वभावों के सहित उपदेश करे।

3—एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।

यजुर्वेद अ० 32 मन्त्र 4।।

अर्थ—हे (जनाः) विद्वानो (एषः ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशाओं और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से व्याप्त होके (सः उ) वही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ।

भावार्थ—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ। सब दिशाओं में व्याप्त होकर इन्द्रियों के बिना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है, वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट होता है, वह ध्यानशील मनुष्यों को जानने योग्य है अन्य के जानने के योग्य नहीं।

उपर्युक्त वेदार्थ से भी यही सिद्ध होता है कि ऋषि दयानन्द हृदय और अन्तःकरण को एकार्थ मानते हैं। महर्षि ने यजुर्वेद के लगभग 20 मन्त्रों में हृदय शब्द को प्रकरणानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त कियां है, परन्तु उपासना-विषय में (ईश्वर की भक्ति में) हृदय का अर्थ अन्तःकरण या बुद्धि ही किया है। ऐसा ही सभी आर्य विद्वानों को मानना चाहिये।

यजुर्वेद के 18 वें अध्याय के दूसरे मन्त्र से सिद्ध होता है कि आत्मा का स्थान मस्तिष्क में ही हैं।

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे .... यज्ञेन कल्पन्ताम्।

यजु० 17।2

मेरा (प्राणः) हृदय जीवनमूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन (मे) मेरा (अपानः) नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में ठहरने वाला पवन वे सब धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हों।

इस मन्त्र में प्राण वायु का स्थान कण्ठ प्रदेश में कहा गया है और उस देश को हृदय जीवन मूल कहा है। इस मन्त्र की पुष्टि प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न से होती है—पिप्पलाद ऋषि से कौसल्य आश्वलायन मुनि ने पूछा—"भगवन् किससे यह प्राण उत्पन्न होता है? इस शरीर में कैसे आता है? अपने आप को बांट कर शरीर में कैसे रहता है? किस द्वार से निकल जाता है?

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर दिया—आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, जैसे पुरुष के साथ यह देह की छाया फैली होती है, ऐसे ही यह आत्मा देहों में फैला हुआ है। मानस वृत्तियों से इस शरीर में प्राण आता है। प्राण का शरीर में विभाजन कैसे होता है? इसके उत्तर में कहा गया है—जैसे कोई महाराजा अपने अधिकारियों को काम में लगाता है और कहता है कि इन ग्रामों पर तू शासन कर, ऐसे ही यह प्राण दूसरे प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थान तथा काम पर लगाता है। इनके विभाग कैसे होते हैं? उत्तर में कहा गया है—

"मल-मूत्र-त्याग के अवयवों में अपान वायु को जोड़ता है। आँख, कान, मुख और नासिका में 'प्राण' स्वयं रहता है। मध्य में (कण्ठ से नाभि तक) समान वायु रहता है। समान वायु ही इस खाये हुये अन्न को पचाता है।"

इसलिये ये सात ज्योतियाँ हैं (समान से पचाये हुये अन्न से सात ज्वालायें जगती हैं, दो कानों की, दो नाक की, दो नेत्रों की, एक मुख की)। इन सात ज्योतियों के बीच में ही हृदय है। इस हृदय में ही जीवात्मा का स्थान है, इसलिये पिप्पलाद ऋषि ने कहा—

'हृदि ह्येष आत्मा' निश्चय से यह आत्मा इस हृदय में ही। हृदय शब्द का धात्वर्थ ऋषि दयानन्द ने स्वयं उणादि प्रत्यय के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि 'हृञ्' धातु हरना अर्थ में आता है, इसलिये विषयों को हरने के कारण हृदय शब्द बना। विषयों को हरने वाली इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं। परमात्मा भी सब प्राणियों के दु:खादि को हरता है, इसलिये ऋषि ने कई प्रकरणों में हृदय शब्द का अर्थ परमात्मा भी किया है। इसलिये मस्तिष्क में रहने वाले बुद्धि, मन और अन्त:करण को हृदय नाम से पुकारा जाता है और जीवात्मा स्थूल देह के अन्तर्गत सूक्ष्म शरीर बुद्धि आदि के वेष्टन में रहता है। जब तक जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं कर लेता उस समय तक बुद्धि के आवेष्टन में निरन्तर रहना पडेगा और यह भी निश्चित है कि बुद्धि का स्थान मस्तिष्क में ही रहेगा।

❑❑❑

दूसरा पक्ष

दूसरा पक्ष श्री राजवीर जी शास्त्री का है। उनका कथन शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क है अथवा हृदय? एक विवादास्पद एवं सूक्ष्म विषय है। सूक्ष्म विषय में ऋषियों के शास्त्रीय प्रमाण ही मान्य होते हैं और उन्हीं को मानना चाहिये। इस विषय में शास्त्रों की अविरुद्ध मान्यतायें देखिये—

(1) महर्षि दयानन्द—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है इसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर और भीतर एक रस होकर भर रहा है वह आनन्दस्वरूप उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं हैं।

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, उपासना-विषय)

यह लेख महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है।

(1) ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त यह है—'सत्य और असत्य' का निर्णय करने के लिये ये आठ प्रमाण है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। इनमें जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव की गणना करे तो चार प्रमाण रह जाते हैं तथा इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्य और असत्य का निश्चय कर सकता है अन्यथा नहीं।

(2) विवादास्पद विषय में ऋषि दयानन्द को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करने से ऋषि के ऊपर प्रतिज्ञा-हानि का कलंक आरोपित होता है। ऋषि की प्रतिज्ञा है—"**अथोपासना-विषये उपनिषदां प्रमाणानि।**"

अब उपासना के विषय में उपनिषदों के प्रमाण देते हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द उपनिषद् के प्रमाण को छोड़ कर अपना काल्पनिक विचार उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकार का व्यवहार जालसाजी कहा जायेगा। इसमें एक पक्ष युधिष्ठिर मीमांसक का है। उनका कहना है कि इस प्रकार का व्यवहार महर्षि दयानन्द का नहीं हो सकता, यह किसी पण्डित की जालसाजी है, अत: ऋषि दयानन्द निष्कलंक हैं। परन्तु श्री राजवीर जी शास्त्री का कथन है—"महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते, इसलिये उनकी मान्यता का खण्डन यह कहकर करना कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका की भाषा पण्डितों की है, ऋषि की नहीं और संस्कृत में ये बातें नहीं हैं, उनकी यह युक्ति तथ्यहीन है। इस ग्रन्थ का अनुशीलन करने वाले ऐतिहासिक तथ्यों को देखकर इसकी भाषा को पण्डितों की नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि अनुवादक पण्डितों को यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी ओर से कुछ बढ़ाकर लिख सकें। हां मूल लेखक ही बढ़ाकर लिख सकता है।"

❑❑❑

समीक्षा

(क) राजवीर शास्त्री जी का यह कथन है कि 'महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते' ठीक है, इसीलिये ऋषि वर ने स्वयं उपनिषदों के प्रमाणों को हिन्दी में नहीं लिखा, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि उपनिषदों के प्रमाणों को ज्यों का त्यों रखा जाये। अत: उपनिषदों की भाषा सरल समझकर संस्कृत में भाष्य नहीं किया। हिन्दी में अनुवाद करना पण्डितों के ऊपर छोड़ दिया। पण्डितों ने विश्वासघात किया और अपनी ओर से पौराणिक पण्डित वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु की टीकाओं से लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में हिन्दी अनुवाद के नाम से लिख दिया और यह कलंक का टीका महर्षि के माथे पर लगा दिया।

(ख) यह बात मानने योग्य नहीं कि अनुवादकों को यह अधिकार नहीं होता कि वे अपनी ओर से कुछ बढ़ा सकें।

यह सर्वविदित है कि अनुवादक बिना अधिकार के भी अपने स्वार्थ के लिये चोरी छिपे अनुवादों में जोड़-तोड़ करते रहते हैं। उनमें से किसी का पता चल जाता है और किसी का नहीं चलता। इसलिये यह बात असम्भव नहीं कि ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में स्वामी जी द्वारा लिखे गये उपनिषद् मन्त्र के हिन्दी अनुवाद में गड़बड़ भी किसी पण्डित द्वारा की गई थी। इसलिये ऐसा जाली लेख महर्षि दयानन्द जैसे योगी का नहीं हो सकता।

(ग) श्री राजवीर जी शास्त्री का कथन है कि "कुछ कहते हैं कि जो बात संस्कृत में नहीं है वह हिन्दी में कहाँ से आ गई?

इसका उत्तर यह है कि महर्षि योगी थे, उन्होनें संस्कृत के प्रमाण भाग का सामान्य जनों के लिये स्पष्टीकरण किया है।'' शास्त्री जी का यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि ऋषि के योगी होते हुये भी प्रमाण भाग की साधारण जनों में अनधिकृत व्याख्या की। जो कभी भी उचित नहीं हो सकती।

(घ) शास्त्री जी लिखते हैं—"अन्य विद्वानों का मत है कि यह तो रक्त-शोधक यन्त्र है, इसे नवीन विज्ञान के अनुसार हृदय कह देते हैं, यथार्थ में जीवात्मा का निवास-स्थान हृदय तो मस्तिष्क में है, परन्तु ये भी दया के पात्र हैं, जिन्हें शारीरिक विज्ञान का इतना भी बोध नहीं है कि महर्षि के लेखानुसार जो स्थान बताया गया है। वहाँ रक्त-शोध यन्त्र नहीं है। पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना है।''

इस लेख में श्री राजवीर जी शास्त्री की बड़ी भारी भूल हो गई है कि "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना है।'' महर्षि दयानन्द जी ने पुरुष-सूक्त का तो भाष्य भी नहीं किया है। उसमें यह लेख कहाँ से आ गया? ऋषि दयानन्द ने तो ऋग्वेद के सातवें मण्डल के 61 सूक्त तक का ही भाष्य किया है। पुरुष सूक्त तो दसवें मण्डल में है जो 90वां सूक्त है, इसे ही पुरुष सूक्त कहा जाता है। उसमें 16 मन्त्र हैं, उनमें कहीं हृदय शब्द नहीं है।

आपने शायद यजुर्वेद के 31वें अध्याय के पहले मन्त्र को पुरुष सूक्त समझा हो? पुरुष सूक्त के पहले मन्त्र में और यजुर्वेद के 31वें अध्याय के मन्त्र में पाठ-भेद है, तथापि यजुर्वेद के 31वें अध्याय के पहले मन्त्र में हृदय शब्द का वर्णन नहीं है। मन्त्र यह है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ् गुलम्॥ 1॥

पदार्थ—हे मनुष्यो! जो (सहस्रशीर्षा) सब प्राणियों के हजारों शिर (सहस्राक्षः) हजारों नेत्र और (सहस्रपात्) असंख्य पाद जिसके बीच में है ऐसा (पुरुषः) सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर है। (सः) वह (सर्वतः) सब देशों से (भूमिम्) भूगोल में (स्पृत्वा) सब ओर से व्याप्त हो के (दशांगुलम्) पाँच स्थूल भूत पाँच सूक्ष्म भूत ये दश जिसके अवयव हैं, उस सब जगत् को (अति, अतिष्ठत) उल्लंघन कर स्थित होता, अर्थात् सबसे पृथक् भी स्थिर होता है।

भावार्थ—हे मनुष्यो! जिस पूर्ण परमात्मा में हम मनुष्य आदि के अंसख्य शिर आँखें और पग आदि अवयव हैं जो भूमि आदि से उपलक्षित हुये पाँच स्थूल और पाँच सूक्ष्म भूतों से युक्त जगत् को अपनी सत्ता से पूर्ण कर जहाँ जगत् नहीं वहाँ भी पूर्ण हो रहा है। उस सब जगत् के बनाने वाले परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव परमेश्वर को छोड़ के अन्य की उपासना तुम कभी न करो, किन्तु उस ईश्वर की उपासना से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करो।

श्री राजवीर जी शास्त्री के कथन की पुष्टि यजुर्वेद भाष्य से भी नहीं हुई। प्रतीत होता है कि शास्त्री जी ने स्वयं यजुर्वेद के 31वें अध्याय का पहला मन्त्र नहीं पढा, उन्होनें आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के लेख को पढ़कर वह कथन किया है और वैद्यनाथ जी ने उसको—"नाभि से ऊपर 10 अंगुल पर उसकी स्थिति है" कहा है। उन्होनें लिखा है—

"दशांगुल पद का अर्थ विश्व और हृदय दोनों हैं, इसका अर्थ जीव का हृदय भी हो सकता है, जिसकी माप 10 अंगुल चौड़ी है।

—(ऋग्वेद भा० शता० सृष्टि-विद्या)

वैद्यनाथ शास्त्री का यह लेख गोलमोल है, स्पष्ट नहीं। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में लिखा है—"सहस्त्रशीर्षा पुरुषः—जिसके बीच में सब जगत् के असख्यात् सिर आँखें और पग ठहर रहे हैं, उसको सहस्त्रशीर्षा, सहस्त्राक्षः और सहस्त्रपात् भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते हैं और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बन्धता नहीं है। इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो (स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा) यह पुरुष सब जगह से पूर्ण हो के पृथिवी तथा लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठत्)। दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। इससे एक सीमित जगत् का ग्रहण होता है। पाँच स्थूल भूत और पाँच सूक्ष्म भूत ये सब मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पाँच प्राण, मन, बुद्धि चित्त और अहंकार ये चार मिलकर नव और दशवां जीव ये दश अवयव भी लिये जा सकते हैं और शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है। वह परमेश्वर इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों और भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह पुरुष कहलाता है, क्योंकि जो उस दशांगुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है।"

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के इस उद्धरण को पढ़कर शास्त्री जी को अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिये कि ऋषि दयानन्द

जी ने नाभि से 10 अंगुल ऊपर हृदय को नहीं माना। शास्त्री जी को यह भी विचार करना चाहिये कि ऋषि ने यजुर्वेद के भाष्य में हृदय आदि का उल्लेख क्यों नहीं किया? और भूमिका में हृदय का उल्लेख किस आधार पर किया? और बढ़ते-बढ़ते ऋषि के विपरीत नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय को किस आधार पर लिया? मेरा अनुमान है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पहले लिखी गई थी और यजुर्वेद के 31वें अध्याय का भाष्य सबसे पीछे किया गया। यह भी निश्चय है कि भूमिका से पहले ही ऋषि ने उवटाचार्य और महीधराचार्य के भाष्यों को अच्छी तरह से पढ़ लिया था।

उवट भाष्य में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' के भाष्य में लिखा है—

'सः भूमिम् सर्वतः स्पृत्वा अति अतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।' सः पुरुषः नारायणाख्यः सर्वतः भुवन-कोशस्य भूमिम् स्पृत्वा व्याप्य दशाङ्गलम् अत्यतिष्ठत्। दश च तानि अंगुलानि दशाङ्गुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति दशाङ्गुलप्रमाणं हृदय-स्थानम्। अपरे तु नासिकाग्रं दशाङ्गलमिति।''

अर्थात्—''सः भूमिम्—नारायण नाम वाला पुरुष (परमात्मा) सब ओर से भुवन के कोश भूमि में व्याप्त होकर दशांगुल को भी अतिक्रमण करके (दशाङ्गुल—दस इन्द्रियों को) ठहरता है। कुछ विद्वान् व्यर्थ में रुचि रखते हैं कि दशाङ्गुल प्रमाण का हृदय देश है और दूसरे तो कहते हैं नासिका ही दश अंगुल है।''

आचार्य उवट ने उक्त मन्त्र के भाष्य में स्वयं तो हृदय शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु दूसरे आचार्यों के सम्बन्ध में कहा

है कि उन्होनें व्यर्थ में ही दशांगुल प्रमाण का हृदय देश कहा है। इसी मन्त्र के भाष्य में आचार्य महीधर ने लिखा है—

''सः पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपां सर्वतः तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च स्पृणोतिर्व्याप्तिकर्मा। यद्वा भूमि शब्दो भूतोपलक्षकः। पञ्च भूतानि व्याप्य दशांङ्गुल-परिमितं देशमध्यतिष्ठत् अतिक्रम्यावस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षणम् ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतः व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। यद्वा नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते 'कतम आत्मे' त्युपक्रम्य 'सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति' रितिश्रुतेः विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अन्तर्यामिनो नियन्तृत्वेन।''

इसका अर्थ यह है—वह परमात्मा ब्रह्माण्डलोक रूप वाली पृथ्वी को सब ओर मध्य, ऊपर और नीचे व्याप्त करके या भूमि शब्द पाँच भूतों (अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथ्वी) का उपलक्षक है—पाँच भूतों में व्याप्त होकर दशांगुल परिमित देश का उल्लंघन करके ठहरता है। दशांगुल ब्रह्माण्ड का उपलक्षण है, वह ब्रह्माण्ड से बाहर भी सब जगह व्याप्त हो रहा है, यह अर्थ है। अथवा 'नाभि के पास से दश अंगुल दूर होकर हृदय में ठहरता है' नाभि से क्यों कहा?

इस में महीधर आचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् अ० 4 ब्राह्मण 3 के 7वें मन्त्र का प्रमाण दिया है, उसमें राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया था **''कतम आत्मेति?''** याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया **''योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः''** महीधर ने उपनिषद् के प्रमाण से लिखा है कतम आत्मा? उत्तर दिया जो यह प्राणेषु (इन्द्रियों के बीच में) विज्ञानमय (चेतन

स्वरूप) हृदय के अन्दर प्रकाश करने वाला जीवात्मा है। जीवात्मा का हृदय स्थान में रहना इसलिये कहा है कि अन्तर्यामी परमात्मा जीव को उसके कर्मफल को नियंत्रित करे।''

महीधर का यह मत था कि जीवात्मा का स्थान नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय में है, परन्तु ऋषि दयानन्द का मत था कि जीवात्मा का स्थान कंठ देश में है, जैसा कि यजुर्वेद के अध्याय 18 के दूसरे मन्त्र में लिखा है—

'प्राणश्च मे' मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला है, इस मन्त्र में तीन प्राणों का वर्णन है—प्राण, अपान और व्यान। शरीर में इन तीनों का स्थान ऋषि ने इस प्रकार से लिखा है—

(1) मेरा प्राण हृदय जीवन मूल कण्ठ देश में रहने वाला,

(2) अपान नाभि से नीचे को जाने और नाभि में ठहरने वाला,

(3) व्यान शरीर की सन्धियों में व्याप्त (18।2)। इसकी पुष्टि प्रश्न उपनिषद् से होती है। उसमें मुख्य प्राण है जिसका ठिकाना नाक, कान, आँख और मुख है। दूसरा अपान है जो नाभि से नीचे वायु और उपस्थ में कार्य करता है। व्यान सारे शरीर की नाड़ियों में विचरण करता है। हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है। ऋषि ने भी ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में यही कहा है।

संस्कृत में भी लिखा है—**जीवस्य हृदयं दशाङ्गुल-परिमितम्।** इसका अनुवाद हिन्दी में किया है—शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है। जिस मनुष्य का यह विश्वास है कि हृदय नाभि से दश अंगुल

ऊपर है वह महीधर का अनुयायी है, महर्षि दयानन्द का अनुयायी नहीं है। क्योंकि ऋषि दयानन्द ने हृदय का प्रमाण दश अंगुल कहा है, इसके विपरीत महीधर नाभि से हृदय तक दश अंगुल कहता है, अर्थात् महीधर नाभि और हृदय के बीच में फासले को 10 अंगुल कहता है परन्तु स्वामी दयानन्द हृदय की अपनी लम्बाई को दश अंगुल प्रमाण बतलाते हैं।

दूसरी बात ऋषि दयानन्द हृदय का स्थान कण्ठ देश में कहते हैं, परन्तु इसके विरुद्ध महीधर हृदय का स्थान नाभि से दस अंगुल ऊपर में मानता है। जिस का प्रमाण दो-तीन अंगुल ही होगा। इसलिये निश्चय होता है कि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना-विषय के अन्तर्गत उपनिषद् के हिन्दी भाष्य के लिखने वाला महीधर और वाचस्पति मिश्र का अनुयायी है ऋषि दयानन्द का अनुयायी कदापि नहीं हो सकता और दोनों स्तनों के बीच में जो स्थान है वहाँ हृदय की स्थिति इसलिये नहीं है कि हृदय शब्द का अर्थ है 'विषयों को हरण करने वाला। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन शब्दादि विषयों का हरण करते हैं और उन हरण किये गये विषयों को मन बुद्धि को अर्पण कर देता है और बुद्धि उन विषयों को इन्द्रियों को अर्पण कर देती है। यह सब कार्य शरीर के अंगों में उत्तमांग शिर के अन्तर्गत मस्तिष्क में होता है। ये हृदयादि तत्त्व मस्तिष्क में रहते हैं जहाँ शरीर का संचालक जीवात्मा रहता है।

शरीर के मस्तिष्क भाग में जीवात्मा के रहने के पक्षधर विद्वानों के विरोध में श्री राजवीर शास्त्री जी ने महर्षि पतञ्जलि, महर्षि व्यास तथा महर्षि पणिनि के लेखों को उद्धृत किया है, परन्तु उनके उद्धरणों से मस्तिष्क में निवास होने का खण्डन नहीं

हो सकता, क्योंकि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क मानने वालों का यह मत नहीं है कि 'हृदय, मस्तिष्क और मूर्धा' ये तीनों एक ही है, अपितु ये विद्वान् भी पतंजलि आदि के अनुसार इन पदार्थों को भिन्न-भिन्न मानते हैं। ये विद्वान् लोग मानते हैं कि शिर-कपाल के ऊपरी भाग में मूर्धा है, उस से नीचे बृहद्-मस्तिष्क, कपाल के पीछे भाग में लघु मस्तिष्क, दोनों के बीच में सुषुम्ना शीर्षक और बृहद् मस्तिष्क में हृदय देश है।

शास्त्री जी ने व्यास के भाष्य को उद्धृत किया है—

(ख) (हृदये) **"यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तत्र संयमात् चित्त संवित्।"**

अर्थ—यह जो इस ब्रह्मपुर में अल्प (सूक्ष्म) कमल के समान गृह है उसमें बुद्धि सत्त्व है, उसमें संयम करने से चित्त को बोध होता है।

शास्त्री जी को निष्पक्ष होकर विचारना चाहिये कि व्यास-भाष्य में स्पष्ट कर दिया है कि हृदय बुद्धि का स्थान है, जिसके साथ जीवात्मा का अटूट सम्बन्ध है। स्वयं व्यास ऋषि ने **"चित्तेरप्रतिसंक्रमायाम्"**(सूत्र 4।22) के भाष्य में लिखा है—

न पातालं न च विवरं गिरीणां,
नैवान्धकारं कुक्षियो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं,
बुद्धि वृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

अर्थ—पाताल में, पर्वतों की गुफा में, अन्धकार में, समुद्रों की खाड़ियों में, परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् नहीं होता, किन्तु बुद्धि ही एक ऐसा स्थान है जिसमें विराजमान हुये परमात्मा का

सदैव साक्षात्कार होता है, बुद्धि वृत्ति से उसका स्वरूप विशेष नहीं है ऐसा ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं। (4।22)

पातञ्जल योग-शास्त्र के दो सूत्रों का भाष्य करते हुये महर्षि व्यास ने हृदय-पुण्डरीक का वर्णन किया है—(1) 'प्रथम समाधि पाद सूत्र 36। (2) विभूति पाद सूत्र 34—इन दोनों सूत्रों के भाष्य की टीका वाचस्पति मिश्र ने की है। उस टीका में लिखा है—

हृदय पुण्डरीक इति-उदरोरसयोर्मध्ये यत् पद्ममधोमुखं तिष्ठत्यष्टदलं रेचक-प्राणायामेन तदूर्ध्वमुखं कृत्वा तत्र चित्तं धारयेत्।

अर्थात्—पेट और छाती के बीच में जो कमल नीचे की ओर मुख वाला है उसको रेचक प्राणायाम से ऊपर को मुखवाला करके वहाँ चित्त को धारण करे।। 1।36।।

हृदये चित्त-संवित्-हृदयपदं व्याचष्टे, यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे बृहत्वात् तदेव पुण्डरीकमधोमुखं वेश्म मनसः। इसका भाषार्थ इस प्रकार से है—

हृदय पद को कहते हैं—जो यह इस ब्रह्मपुर में बड़ा होने से आत्मा ब्रह्म है उसका पुर—घर है। उसको ही वहाँ जानता है कि 'मैं हूँ'। दहरं अर्थात् गढ़ा वह ही अधोमुख कमल मन का घर है।

(विभूति पाद 34 सूत्र)

वाचस्पति मिश्र के इस लेख को ही लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के विवादास्पद उपासना-विषय में किसी पण्डित ने प्रक्षेप किया है। 'योगी का आत्मचरित्र' में भी श्री दीनबन्धु ने

वाचस्पति मिश्र के भाष्य का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिसको ऋषि दयानन्द ने भाष्य भूमिका के ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में निषिद्ध घोषित किया था, परन्तु राजवीर जी शास्त्री इसी निषिद्ध लेख को ऋषि दयानन्द का लेख मानते हैं।

शास्त्री जी ने अपने पक्ष में महर्षि पाणिनि के लेख को भी उद्धृत किया है। वहाँ लिखा है—

आत्मा बुद्ध्यासमेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम्॥

(वर्णोच्चारण०)

इसका हिन्दी अनुवाद किया है—"जीवात्मा बुद्धि से अर्थों का संग्रह करके बोलने की इच्छा से मन को नियुक्त करता है, मन जठराग्नि को ताड़ता है। जठराग्नि वायु को प्रेरित करती है और वायु वक्षस्थल में घूमती हुई (कण्ठादि को प्राप्त करके) स्वर अर्थात् ध्वनि को प्रकट करती है। इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा का स्थान नाभि से दश अंगुल ऊपर दोनों स्तनों के मध्य में ही है और वहीं सूक्ष्म शरीर से आवेष्टित जीवात्मा रहता है और मन वहीं जठराग्नि की ताड़ना कर सकता है, मस्तिष्कगत होकर नहीं।

इस में भी शास्त्री जी ने बड़ी भूल की है। उनको जानना चाहिये कि—

सामान्यकरण-वृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।

(सांख्यशास्त्र 2।31।।)

अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये पाँचों प्राण जो वायुरूप हैं सब करणों की साधारण वृत्ति हैं। पाँचों प्राण समस्त 13 करणों का साधारण व्यवहार है। मन तो जैसा व्यापार वक्षस्थल में समान प्राण और जठराग्नि के साथ करता है वैसा ही अपान वायु के द्वारा मल-मूत्र के स्थानों में भी करता है। दश करण अर्थात् 5 ज्ञानेन्द्रियाँ और 5 कर्मेन्द्रियाँ मन के आधीन हैं। इसलिये शास्त्री जी का चौथा प्रमाण भी शास्त्री जी के पक्ष का पोषक नहीं हो सकता।

श्री राजवीर शास्त्री की एक भूल और है। आप लिखते हैं—"इस विषय में यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्री डा० योगेन्द्र कुमारादि कतिपय विद्वानों ने स्थूल इन्द्रियों को मस्तिष्कगत मानकर समस्त शास्त्रीय वचनों को लगाने का प्रयास किया है, किन्तु जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर के मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियादि सत्रह घटक हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों में भी जीवात्मा के साथ रहते हैं स्थूल नेत्र आदि इन्द्रियाँ तो विद्युत् बल्ब के तुल्य गोलक मात्र ही हैं। जैसे विद्युत् के सम्पर्क से बल्ब प्रकाशमान होता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर के घटकों के सम्पर्क से नेत्रादि गोलक कार्य करते हैं और शास्त्रीय वचनों को स्थूल गोलक-परक लगाकर जीवात्मा के स्थान का निर्णय करना अत्यन्त भ्रान्ति-जनक है।"

यह बात तो साधारण व्यक्ति भी जानता है कि गोलक नेत्र नहीं है, नेत्र तो गोलक के अन्दर है। नेत्र के क्षतिग्रस्त होने पर गोलक के होते हुये भी व्यक्ति नेत्रहीन कहा जाता है। सांख्य शास्त्र कहता है—

अतीन्द्रियमिन्द्रियभ्रान्तानामधिष्ठाने।

अर्थात् इन्द्रिय (अतिसूक्ष्म होने से) अतीन्द्रिय (इन्द्रिय से ग्रहण न होने वाली) है। मूर्ख लोग गोलक को इन्द्रिय कह देते हैं। डा० योगेन्द्र भी इस बात को जानता है कि मस्तिष्क में काम करने वाली इन्द्रियाँ स्थूल नहीं हैं।

यह भी जानना चाहिये कि बल्ब का विद्युत् के सम्पर्क मात्र से प्रकाश नहीं होता, अपितु उस सूक्ष्म से तार के साथ विद्युत् का सम्पर्क होता है। बल्ब तो गोलक है, इस गोलक के भीतर विद्युत् को ग्रहण करने वाली शक्ति सूक्ष्म तार में है। जीवात्मा स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, इसके प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित होती है। बुद्धि से मन और मन से सब इन्द्रियाँ प्रकाशित होती हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति जानता है कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा अपने में लीन होता है, उस अवस्था में जीवात्मा का बुद्धि के साथ भी सम्पर्क नहीं रहता, इसलिये इन्द्रियाँ भी प्रकाश रहित हो जाती हैं। इस ज्योतिस्वरूप जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कगत हृदय में है, इसलिये उसके अस्त्र-शस्त्र रूप इन्द्रियाँ भी उसके निकटवर्ती मस्तिष्क में ही रहती हैं। योगदर्शन में भी लिखा है—

दृग्दर्शन-शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। (यो० 2।6।।

अर्थात् अविद्या के कारण व्यक्ति जीवात्मा और बुद्धि को एकत्र देखकर उन दोनों को एक ही समझता है। इस अवस्था को अस्मिता नामक क्लेश कहा जाता है।

उपनिषदों में—'हृदय की 101 नाड़ियाँ कही हैं, उनमें एक मूर्धा की ओर गई है। उसके द्वारा आत्मा ऊपर जाकर अमृत को प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि हृदय और मूर्धा पृथक्-पृथक् हैं। हृदय और मूर्धा का एक नाड़ी के द्वारा सम्बन्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में (8|6|3) भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। इस

लेख के द्वारा भी शास्त्री जी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मूर्धा और हृदय दोनों एक नहीं हैं, वे पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु उनका यह परिश्रम भी निरर्थक है, क्योंकि प्रतिवादी भी दोनों को पृथक्-पृथक् मानता है। परन्तु शास्त्री जी ने हृदय की एक सौ एक (101) नाड़ियाँ कहकर अपने ही पक्ष का खण्डन किया है, क्योंकि 101 नाड़ियाँ न तो रक्तवाहक हृदय में और न दोनों स्तनों के बीच में हैं। हृदय की 101 नाड़ियों का केन्द्र तो मस्तिष्क में ही है। हृदय और मूर्धा को जोड़ने वाली कड़ी भी मस्तिष्क ही है।

आपने छान्दोग्योपनिषद् के 8|6|3 का उद्धरण दिया है। उसमें मूर्धा को जाने वाली नाड़ी के साथ कोई मेल नहीं है। वहाँ तो भिन्न-भिन्न रंग वाली नाड़ियों का वर्णन है। वहाँ तीसरे खण्ड में लिखा है—

तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा तदा सम्पन्नो भवति। 3॥

अर्थ—जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोया हुआ सम शान्त प्रसन्न होता है और स्वप्न को नहीं जानता, उस समय वह (भिन्न-भिन्न रंग वाली) नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। उस समय उसको कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता, उस समय आत्मा तेज से ही सम्पन्न होता है।

श्री राजवीर जी शास्त्री ने अपने लेख की समाप्ति इस प्रकार से की है—"श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने आत्मा का स्थान नामक पुस्तक में यद्यपि दो हृदय माने हैं, पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से दस अंगुल मानते हुये लिखा है—

(क) उपनिषदों के आधार पर हमारे शरीर में दो हृदय सिद्ध होते हैं। एक स्तन के नीचे छाती के वाम भाग में और दूसरा तालु के ऊपर शिर में .... आत्मा मन के ऊपर अधिकार करने के बाद ही विज्ञान और आनन्द की प्राप्ति के लिये इस हृदय में पहुँचता है। इससे पहले वह दूसरे हृदय में रहता है।

(ख) चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् .... इस प्रसंग में अपान के नाभि में प्रवेश करने से प्रथम मन के हृदय में प्रवेश का उल्लेख है। हमारी नाभि से ऊपर के भाग में वह ही स्थान है जो हमारे स्तनों के नीचे वाम भाग में है। ... अतः यह सिद्ध है कि मन का निवास इस हृदय में है। सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह मन इसी हृदय में रहता है (14-15 पृ०)

इस लेख में भी कोई शब्द ऐसा नहीं जो राजवीर जी के सिद्धान्त की पुष्टि करता हो, परन्तु झूठ का सम्मिश्रण इसमें भी कर दिया कि 'आत्मा का स्थान' नामक पुस्तक में यद्यपि दो हृदय माने हैं, पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से 10 अंगुल ऊपर मानते हुये लिखा है—

❑❑❑

समीक्षा

(ग) स्वामी आत्मानन्द जी ने नाभि से दश अंगुल ऊपर का लेख कहीं नहीं किया। श्री० राजवीर शास्त्री ने अपने लेख 'शरीर में जीवात्मा का स्थान और शास्त्रीय विवेचन' में आदि अन्त में झूठ का सहारा लिया। आरम्भ में टिप्पणी लिखी 'पुरुष सूक्त' में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना है, वेदों में यह कहीं नहीं है। अन्त में पुनरपि जीवात्मा का निवास नाभि से दस अंगुल ऊपर मानते हुये लिखा है 'यह भी कहीं नहीं सिद्ध होता। लेख के बीच 5 प्रमाण व्यर्थ हैं, क्योंकि वह प्रतिवादी के विरुद्ध नहीं इसलिये प्रतिवादी का पक्ष पूर्ण रूप से सत्य है।

आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री का मत—श्री योगेन्द्र कुमार के विरोध में इस विषय में दो विचार अब तक रहे हैं—

एक के अनुसार मन और जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क है और दूसरे के अनुसार हृदय है। वास्तविक विचारणा मन को लेकर प्रारम्भ हुई कि मन मस्तिष्क में है या हृदय में है? वेद के अनुसार मन का स्थान हृदय है, यजुर्वेद में पाये शिव-संकल्प सूक्त में मन को **'हृत्-प्रतिष्ठं'** कहा है, अर्थात् वह मन हृदय में रहता है। आयुर्वेद और दूसरे कुछ आधारों पर कुछ लोग कहते हैं कि मन मस्तिष्क में रहता है। महर्षि का पक्ष मन की स्थिति को हृदय में मानने का है। इस **''हृत्-प्रतिष्ठं''** की व्याख्या में उन्होनें ऐसा ही माना है। मन को मस्तिष्क में मानने वाले हृदय को भी मस्तिष्क मानते रहे हैं। वारतविकता यह है कि मन हृदय-देश में ही रहता है, परन्तु उसका गोलक मस्तिष्क में है।

अब निम्न बातें विचारणीय हैं कि—

(1) मन हृदय में स्थित गतिमान् और अत्यन्त वेग शाली है।

(सत्या० शता० सप्तम स०)

(2) मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ में स्थिर करें।

(3) 'दशाङ्गुल' पद का अर्थ विश्व और हृदय दोनों हैं। इसका अर्थ जीव का हृदय भी हो सकता है। उसकी माप 10 अंगुल चौड़ी है।

(ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका शता० सृष्टि-विषय)

(4) ऋषि ने हृदयाकाश को माना है। हृदयाकाश .... क्यों जाना जाये ... यह ब्रह्म का नगर है।

आचार्य श्री वैद्यनाथ जी के मत की आलोचना—(1) मन का स्थान ऋषि दयानन्द ने मस्तिष्क के अन्तर्गत हृदय में माना है वक्षस्थ हृदय में नहीं है। ऋषि ने **प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे** (यजु० 2|18) मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—(मे) मेरा (प्राण) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला। ऋषि हृदय को जीवन मूल मानते हैं और उसको कण्ठ देश में मानते हैं। प्रश्न-उपनिषद् ने इसकी पुष्टि करते हुये मुख्य प्राण को कण्ठ, नासिका, चक्षु, मुख और श्रोत्र में रहने वाला कहा है और उसी में '**हृदि ह्येष आत्मा**' कहा है।

अथर्व वेद काण्ड दस सूक्त 2 मन्त्र 8, 26 और 27 को पढ़ने पर आचार्य जी की सब शंकाओं का निवारण हो जायेगा। मन्त्र इस प्रकार हैं—

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।

चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः॥ 8॥

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।

मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥ 26॥

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।

तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ 27॥

अर्थ—जो देव इस पुरुष देह के मस्तिष्क की, ललाट—माथे की और जो (प्रथमः) सब से प्रथम विद्यमान इस पुरुष के गले की घेंटी और कपाल खोपड़ी की और पुरुष देह के दोनों जबड़ों के बीच की रचना बनाकर प्रकाश स्वरूप द्यौः या मोक्षपद में व्याप्त हुआ है वह देव कौन सा है?

(1) अथर्ववेद का यह मन्त्र इस रहस्य को बतलाता है कि मनुष्य के शरीर की सब से पहली रचना शिर की खोपड़ी से ले कर शिर के सब से निचले भाग जबड़ों तक होती है। इसलिये इस सिर की खोपड़ी में ही जीवात्मा का स्थान है और उसी शिरो-भाग में ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन और बुद्धि भी रखी जाती हैं।

(2) अथर्वा प्रजापति परमात्मा इस पुरुष के मूर्धा (शिर के ऊपरी भाग) को और हृदय को सीकर जब मस्तिष्क से ऊपर और शिर के भी ऊपर प्राणस्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को गति दे रहा है, अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों के कारीगर के समान चला रहा है। वह सब के मस्तिष्क और शिरों के ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान है। 26॥

(3) अथर्वा प्रजापति का बनाया हुआ वह सिर ही देव-कोष इन्द्रियों का मूल आवरण या निवास-स्थान बना हुआ है, उस

शिर की प्राण चारों ओर से रक्षा करता है और अन्न और मन भी उसकी रक्षा करते हैं।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रजापति परमात्मा ने सब से पहले शिर की रचना की और इस ही सर्वोत्तम अंग के अन्दर जीवात्मा और उसके साथ ही इन्द्रियों और मन को भी रखा है।

(4) ऋग्वेद मण्डल 6 सूक्त 9 मन्त्र 6 में लिखा है—

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षु,

र्वी३इदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।

वि मे मनश्चरति दूर आधीः

किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

अर्थ—(श्री स्वामी योगानन्द द्वारा)—ये दोनों कान इधर-उधर दूर-दूर गिर रहे हैं, मेरे नयन भी इधर-उधर दौड़ रहे हैं, (हृदय यद् इदम् ज्योतिः) हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी (विपतयति) दूर भाग रही है, (दूरे आधी मे मनः विचरति) अतिदूरस्थ विषय में ध्यान लगाकर मेरा यह मन भी दूर-दूर विचरण कर रहा है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो! आपसे क्या मैं कहूँ और क्या मनन करूं?

आशय यह है कि प्रत्येक मनुष्य का नित्य यही अनुभव है कि कर्ण, चक्षु, मन आदि इन्द्रियाँ किसी कार्य में स्थिर नहीं रहतीं किञ्चित्मात्र ही मौका मिलने पर झट से इधर-उधर भागने लगती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य सूक्ष्म विचार नहीं कर सकता। सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन ही है। मन को वश में करने से सब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में लिखा है—

"जब उपासना करना चाहे तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।

वेदों के उक्त मन्त्रों से और महर्षि के लेखों से यह स्पष्ट है कि हृदय शब्द का प्रयोग दो स्थानों के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक वह स्थान है जहाँ सारे शरीर से शिरा और धमनी के द्वारा दूषित रक्त प्रवेश करता है और फेफड़ों के द्वारा अशुद्ध रक्त शुद्ध होकर धमनी द्वारा वहाँ से सारे शरीर में पहुँचता है। यह स्थान छाती के दायें स्तन के नीचे से वक्ष-स्थल के बायें भाग में रहता है। दूसरा हृदय वहाँ है जहाँ मस्तिष्क के अन्दर मुख्य प्राण का कार्य (कण्ठ, नासिका, आँख और दोनों कान हैं) चलता है, वहाँ बुद्धि के आवेष्टन में आत्मा का निवास है। इसका प्रमाण स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद अध्याय 18 मन्त्र 2 से और प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न से तथा अथर्ववेद 10।2।26-27। से तथा ऋग्वेद के 6।9।6। से होता है। अतः सिद्ध है कि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कान्तर्गत हृदय में है और उसके आस-पास ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित रहती हैं, परन्तु परमात्मा की प्रेरणा से जीवात्मा मन को अनेक स्थानों से रोककर एक ही स्थान में बांध देते हैं और केवल बुद्धि सत्त्व के द्वारा ईश्वर की भक्ति में लीन हो जाता है। समाधि-अवस्था में सभी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बुद्धि सहित सब शान्त होकर अपने-अपने कार्य को बन्द कर देते हैं। आयुर्वेद के शास्त्रों में ऋषि दयानन्द ने 'चरक और सुश्रुत' इन दो को ही प्रमाण माना है। इनमें से चरक शास्त्र ने बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र, श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते।। (च० सू० 14)
शिरः पूर्वमभिनिवर्तते ते कुक्षाविति कुमारशिरः भरद्वाजः
पश्यति सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा।

(च० शा० 6)

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति इत्याह शौनकः शिरः मूलत्वात् प्रधानेन्द्रियाणाम्।। (सु० शा० 3)

अर्थ—(1) प्राणियों के प्राण जहाँ रहते हैं और सारी इन्द्रियाँ (मन सहित) भी जहाँ रहती हैं जो सब अंगों में सबसे उत्तम है उसको शिर कहा जाता है।

(2) सन्तान की उत्पत्ति के समय पहले शिर ही बाहर निकलता है, भरद्वाज ऐसा देखता है, इसलिये सब इन्द्रियों का स्थान शिर ही है।

(3) गर्भस्थिति के समय में भी सम्भव यही है कि सब से पहले शिर ही बनता है, ऐसा शौनक ऋषि कहता है। शिर के मूल होने से सब इन्द्रियों में शिर ही प्रधान है।

मानव-शरीर में जीवात्मा के रहने का स्थान कौन सा है? इस पर गवेषणा करते हुये मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद के प्रमाणों से यह प्रमाणित किया है कि गर्भ-स्थापना के समय मातृ-कुक्षि में सबसे पहले जीवात्मा प्रवेश करता है, जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर से आवेष्टन से युक्त मातृ-पितृ रजोवीर्य से आवेष्टित होता है। शरीर की रचना प्रारम्भ होने पर सबसे पहले सिर कपाल के ऊपरी भाग से लेकर हनु (ठोडी) तक रचना करके उसमें मूर्धा, मस्तिष्क, हृदय, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और मन को रखा। अथर्व वेद के 10वें काण्ड के केन सूक्त में शरीर की रचना का ही वर्णन हुआ है, उसमें 33 मन्त्र हैं।

आचार्य श्री वैद्यनाथ जी ने दशवें काण्ड के उक्त मन्त्र का छूता सा अर्थ तो किया, परन्तु उसको समझने का प्रयत्न नहीं किया। केवल यह कहकर कि "महान् परमेश्वर ने इन जीवों के मूर्धा को सीकर और हृदय को भी ..." इस मन्त्र में स्पष्ट हृदय और मूर्धा को पृथक्-पृथक् बताया गया है तथा यह कह दिया कि परमेश्वर स्वयं मस्तिष्क से बाहर हो गया, अर्थात् वह कोरे मस्तिष्क का विषय नहीं।

यह पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ कि आचार्य कहलाने वाले व्यक्ति ने वेद मन्त्र की अवहेलना करते हुये झूठ का सहारा लिया। न तो कोई आर्य विद्वान् मूर्धा और हृदय को एक ही मानता है और हृदय को मस्तिष्क से बाहर मानता है। वेद मन्त्र में यह कहीं नहीं कहा गया कि "परमेश्वर मस्तिष्क से बाहर हो गया।" मन्त्र में तो लिखा है। **मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत पवमानोऽधि शीर्षतः**' इसका अर्थ है—'मस्तिष्क से ऊपर और शिर के भी ऊपर होकर, प्राण स्वरूप होकर स्वयं समस्त देहों को गति दे रहा है, अर्थात् वह परमात्मा ही सब देहों में चेतना को यन्त्रों में कारीगर के समान चला रहा है। वह सब के मस्तिष्क और सिरों के ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान है।

जिस प्रकार आचार्य श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने बिना किसी प्रयोजन के अथर्व वेद के मन्त्र की अवहेलना की है, इसी प्रकार से बिना किसी प्रयोजन के ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 71वें सूक्त में **'हत्प्रतिष्ठेषु मनसो जवेषु'** लिख दिया। प्रयोजन था शरीर में 'जीवात्मा का स्थान' इस को सिद्ध न कर सके तो 'हृदय और मस्तिष्क एक नहीं' ले बैठे। यह कोई नहीं मानता कि हृदय और मस्तिष्क एक हैं। मान्यता तो यह है कि हृदय

मस्तिष्क के अन्तर्गत है, इन दोनों में आधार-आधेय सम्बन्ध है। मस्तिष्क बड़ा है और हृदय सूक्ष्म है, इसलिये हृदय मस्तिष्क का एक भाग है।

मन के सम्बन्ध में श्री वैद्यनाथ शास्त्री ने जो कुछ कहा है वह भी चिन्तनीय है। आप ने लिखा--"महर्षि का पक्ष मन की स्थिति हृदय में मानने का है। इस हृत्प्रतिष्ठ की व्याख्या में ऐसा ही माना है। मन को मस्तिष्क में मानने वाले हृदय को भी मस्तिष्क मानते रहे हैं। वास्तविकता यह है कि मन तो रहता हृदय देश में ही है, परन्तु उसका गोलक मस्तिष्क में है।"

मन क्या है? इसको समझाने का प्रयत्न शास्त्री जी ने किया ही नहीं है। महर्षि दयानन्द ने मनस्तत्त्व के महत्त्व को समझाने के लिये शिव-संकल्प सूक्त की व्याख्या की है, इस सूक्त का मन्त्रद्रष्टा ऋषि शिव-संकल्प ऋषि था। इस सूक्त के छः मन्त्र हैं। इन की पूरी-पूरी व्याख्या महर्षि दयानन्द ने संस्कृत और आर्य भाषा में की है। इस व्याख्या को ध्यान पूर्वक समझे बिना कोई भी व्यक्ति मनस्तत्त्व को समझने में असमर्थ रहता है। इस सूक्त के छः मन्त्रों का देवता 'मन' ही है। परन्तु यहाँ 'मन' का अर्थ संकल्प-विकल्पात्मक मन ही नहीं है, अपितु यहाँ मनस्तत्त्व अन्तःकरण चतुष्टय का प्रतिनिधि है। यजुर्वेद अध्याय 34 के 6 मन्त्रों का संक्षेप से ऋषिवर ने इस प्रकार से भावार्थ किया है—

1. जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा को मानते और विद्वानों का साथ करके अनेक विध सामर्थ्य-युक्त मन को शुद्ध करते हैं जो जागृतावस्था में विषय विकार वाला है वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है, जो वेगवाले पदार्थों में अति वेगवान् ज्ञान के साधक होने से इन्द्रियों के प्रर्वत्तक मन को वश में करते हैं वे

अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रकट कर सकते हैं।

2. मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना सुन्दर विचार विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें।

3. हे मनुष्यो! जो अन्तःकरण बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप वृत्ति वाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करने वाला प्राणियों के सब कर्मों का साधक अविनाशी मन है उसको न्याय और सत्य के आचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो।

4. हे मनुष्यो! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल का ज्ञाता, सब सृष्टि को जानने वाला, कर्म उपासना और ज्ञान का साधक है उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो।

5. हे मनुष्यो! तुम लोगों को चाहिये जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिस में सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण द्वारा पवित्र करो।

6. इस मन्त्र में दो उपमालंकार हैं—जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है वही बल से सारथी घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले जाता और लगाम से सारथी घोड़ों को जैसे वैसे वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध दुःखदायी, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ अप्रसिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये।

ऋषि दयानन्द ने वेद-मन्त्रों के आधार पर मनुष्यों को आदेश दिया है कि मनुष्य अपने शरीर का स्वामी है। शरीर के सब अंगों को वह अपनी इच्छा के अनुसार काम में लगा सकता है। जीवात्मा के कर्मों का सबसे बड़ा और मुख्य साधक अन्तःकरण चतुष्टय है। यहाँ मन ही अन्तःकरणों का प्रतिनिधि है, इसलिये ऋषि ने इस व्याख्या का शीर्षक भी यही रखा है "अथ मनसो वशीकरण-विषयमाह"—अब मन को वश में करने का विषय कहते हैं।"

ऋषि ने 6 मन्त्रों की व्याख्या में मन को वश में करने के उपाय बताकर अन्त में कहा—

"जो मन (सुषारथि) जैसे सुन्दर चतुर सारथी गाडीवान् (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है वैसे ही (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र-शीघ्र इधर-उधर घुमाता है और (अभीशुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिनः) वेग वाले घोड़ों को सारथी वश में करता है वैसे ही नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धादि अवस्था से रहित और अत्यन्त वेगवाला है वह मेरा मन मंगलमय नियम में इष्ट होवे।

जिस मन में उपर्युक्त 6 मन्त्रों में कही हुई क्षमतायें उत्पन्न हो जाती हैं, वही मन हृदय में रहता है। अनिष्ट भावनाओं से युक्त मन हृत्प्रतिष्ठ नहीं हो सकता। मन और संकल्प कैसे होने चाहिये? ऋषि ने लिखा-1. 'मन' संकल्प-विकल्प 2. मनन-विचार करना रूप मन। 3. कर्मों का साधन रूप मन। 4. योगयुक्त चित्त। 5. सर्व पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान-युक्त। 6. अजिर और जविष्ठ शिव-संकल्प वाला भी है।

1. कल्याणकारी धर्म विषयक इच्छा वाला। 2. धर्मेष्ट। 3. कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखने वाला। 4. मोक्ष रूप संकल्पवाला। 5. कल्याणकारी वेदादि सत्य शास्त्रों के प्रचार रूप संकल्प वाला । 6. मंगलमय नियम में इष्ट।

अन्त में सारांश यह निकला--सब मूर्खजन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् जिसे अपने वश में करते हैं, जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध हुआ दु:खदायी है, जो जीता (जीता गया) सिद्धि को और न जीता (हारा) हुआ असिद्धि को देता है। वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिये।

ऋषि दयानन्द ने जीवात्मा का स्थान कण्ठ देश में माना है, जैसा कि उन्होनें यजुर्वेद के 18वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में लिखा है—"प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे।" मेरा (प्राण:) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन ... (यज्ञेन) धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हो।"

यदि राजवीर जी शास्त्री और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री सच्चे हृदय से महर्षि दयानन्द के अनुयायी होते तो ये दोनों शास्त्री महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद के 18वें और 31वें अध्यायों के भाष्य का विरोध न करते, परन्तु इन दोनों शास्त्री महोदयों ने ऋषि के वेद-भाष्यों का तो विरोध किया, परन्तु महीधर और वाचस्पति मिश्र के लेखों को सत्य मानकर लिखा कि मन का और जीवात्मा का स्थान शरीर में हृदय देश है, वह अंगुष्ठ मात्र है। नाभि से ऊपर 10 अंगुल पर उसकी स्थिति है।"

ऋषि ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में हृदय शब्द के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है—"**जीवस्य हृदयं दशांगुल-परिमितं च**" हिन्दी में अनुवाद किया—और शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।

राजवीर जी शास्त्री ने तो इन वचनों के स्थान में लिखा "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना जाता है।" राजवीर शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा झूठ है। मैं प्रियवर राजवीर जी से अनुरोध पूर्वक कहूँगा कि यदि वे ऋषि दयानन्द के सच्चे अनुयायी हैं तो वे इसके लिये प्रायश्चित्त करें और महीधर के नाभि सम्बन्धी वचनों का विरोध करे और ऋषि के यजु० अ० 18 मन्त्र 2 के भाष्य को स्वीकार करे कि जीवात्मा का स्थान हृदय में—कण्ठ देश में है और दोनों स्तनों के बीच में हृदय का होना असिद्ध मानें तो समझा जायेगा कि आप हृदय से ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं अन्यथा मैं यह विश्वास कर लूंगा कि आप अपने पूर्वाग्रहों से चिपटे हुये हैं।

श्री वैद्यनाथ जी शास्त्री के विचारों की अच्छी प्रकार से छान-बीन करके पता चल गया कि उनकी आस्था ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति नगण्य है। उनकी अवस्था 'आधा तीतर आधा बटेर वाली है।' आप कहते हैं—"वास्तविकता यह है कि मन तो रहता हृदय देश में ही है, परन्तु उसका गोलक मस्तिष्क में है।" इन्द्रियों के गोलकों को छोटे से बालक भी बतला सकते हैं, परन्तु क्या यह आचार्य शास्त्री बतला सकते हैं कि मस्तिष्क में मन का कौन सा गोलक है? वास्तविकता यह है कि आप यह भी नहीं जानते कि मन क्या वस्तु है? जिसको आपने "नाभि-प्रदेश में व हृदय कण्ठ में स्थिर करें" कहा है वह क्या है? मैं सत्य कहता हूँ कि वैद्यनाथ जी शास्त्री महर्षि दयानन्द के भावों को समझ ही नहीं पाये हैं।

योग-दर्शन में मन का अर्थ होता है—"चित्त, बुद्धि और मन" अर्थात् ये तीनों एक अर्थ वाले हैं। वहाँ हृदय शब्द का

भाव वह रक्त-वाहक यन्त्र नहीं, जिसे दिल भी कहते हैं जिसका स्थान वाम स्तन के नीचे बाईं ओर है। वह न तो जीवात्मा का निवास-स्थान है और न मन का। आपको शायद पता नहीं कि सांख्य दर्शन और योग-दर्शन जीवात्मा को विभु मानते हैं, परिच्छिन्न नहीं। पातञ्जल योग शास्त्र में केवल 3|34 सूत्र में हृदय शब्द का प्रयोग हुआ है (**हृदये चित्त संवित्**) अर्थात् हृदय प्रदेश में संयम करने से चित्त का ज्ञान हो जाता है। इसमें जीवात्मा के निवास स्थान होने का कोई संकेत नहीं। योग-दर्शन के चतुर्थ पाद के २२वें सूत्र के भाष्य में व्यास ऋषि ने लिखा है—

''न पातालं न च विवरं गिरीणां,

नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।

गुहा यस्यां निहितं ब्रह्मशाश्वतं,

बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥ 22॥

अर्थात्—पाताल में, पर्वतों की गुफा में, अन्धकार में, समुद्रों की खाड़ियों में परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु बुद्धि ही एक ऐसा स्थान है। जिसमें विराजमान हुये परमात्मा का सदैव साक्षात्कार होता है। बुद्धि वृत्ति से उसका स्वरूप विशेष नहीं है, ऐसा ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं। इसलिये योग-भाष्य से यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा और मन का स्थान ''हृदय-पुण्डरीक'' है।

सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है—''जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगाकर बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक मन को नाभि प्रदेश में

वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे।''

इससे यही सिद्ध होता है कि मन के रहने का एक स्थान नहीं है, अपितु शरीर में जीवात्मा के स्थिति-काल में सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर यह चञ्चल मन न केवल अपने शरीर के प्रत्येक भाग में ही आता-जाता है, अपितु शरीर के बाहर भी आता-जाता है।

ऋषिवर ने यजुर्वेद के 34वें अध्याय के 6 मन्त्रों में मनस्तत्त्व की व्याख्या में मन की शक्तियों का और उसको वश में करने उपायों का वर्णन किया है, अन्त में वह जीवात्मा के निवास स्थान हृदय देश में (हृत्स्थ) ठहरने वाला हो जाता है, यह योगावस्था की पराकाष्ठा है। इसी को '**योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः**' कहा गया है।

श्री राजवीर जी शास्त्री ने 'दयानन्द सन्देश मासिक पत्र' के दिसम्बर 1983 के अंक में 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' लिखा है और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री के लेखों को उद्धृत किया है, परन्तु उनके द्वारा अपने पक्ष में कोई भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सका। स्वामी दयानन्द जी ने प्रमाण के सम्बन्ध में कहा है—'शिष्टाचार' जो धर्माचरण-पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या-ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार है और जो इसको करता है वह शिष्ट कहलाता है।

श्री राजवीर जी शास्त्री का पक्ष था—''कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है,

जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।''

(उपासना-विषय)

इसकी पुष्टि में शास्त्री जी लिखते हैं—(1) महर्षि की इस मान्यता को न मानने वाले विपक्षी विद्वान् जिन बातों से खण्डन करते हैं उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है, क्योंकि उनकी समस्त बातें तर्कहीन तथा प्रमाण-हीन होने से मान्य नहीं हो सकतीं—

(क) महर्षि साक्षात् योगी होने से असत्य नहीं लिख सकते।

(ख) कुछ कहते हैं कि जो बात संस्कृत में नहीं है, वह हिन्दी में कहाँ से आ गई?

इसका उत्तर यह है कि महर्षि योगी थे, उन्होनें संस्कृत के प्रमाण भाग का सामान्य जनों के लिये स्पष्टीकरण किया है।

(ग) किसी विद्वान् का मत है कि यह तो परमात्मा की प्राप्ति का साधन बताया है।

(घ) अन्य विद्वानों का मत है कि यह तो रक्त-शोधक यन्त्र है, इसे नवीन विज्ञान के अनुसार हृदय कह देते हैं। यथार्थ में जीवात्मा का निवास हृदय तो मस्तिष्क में है। परन्तु ये भी दया के पात्र हैं, जिन्हें शारीरिक विज्ञान का इतना भी बोध नहीं है कि महर्षि के

लेखानुसार जो स्थान बताया गया है वहाँ रक्त-शोधक यन्त्र नहीं है। पुरुष-सूक्त में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना है।

अपने पक्ष की पुष्टि में शास्त्री जी ने चार प्रमाण लिखे हैं टिप्पणी के रूप में, परन्तु इनमें तीन लेख तो प्रमाण नहीं माने जा सकते, उनको न्याय-दर्शन के अनुसार साध्य-सम-हेत्वाभास कहा जाता है, क्योंकि उन कथनों में कोई हेतु नहीं दिया गया। चौथे प्रमाण पर विचार किया जा सकता है। वहाँ ऋषि दयानन्द के पुरुष-सूक्त के भाष्य का नाम लिखा गया है, परन्तु पुरुष सूक्त तो ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 90वां सूक्त है। उसका भाष्य तो ऋषि दयानन्द ने किया ही नहीं। यदि यजुर्वेद के 31वें अध्याय के पहले मन्त्र '**सहस्रशीर्षा पुरुषः**' के भाष्य की बात कही गई तो वहाँ पर तो हृदय शब्द का संकेत तक भी नहीं। यदि "भाष्य भूमिका" के नाम से कहा जाये कि "पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से 10 अंगुल ऊपर माना है।" तो यह भी झूठ है और दुगना झूठ है। परन्तु जिनको शास्त्री जी ने दया के पात्र और सर्वथा अबोध कहा उन्होनें सिद्ध कर दिया कि ऋषि दयानन्द जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क-गत हृदय में मानते थे, जैसा कि उन्होनें यजुर्वेद अध्याय 18 के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखा है—

1. प्राणश्चमेऽपानश्च मे व्यानश्च मे"।

—(यजु० अ० 18 मन्त्र 24)

पदार्थ—(मे) मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश मे रहने वाला पवन (मे) मेरा (अपानः) नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में ठहरने वाला पवन सब धर्म के अनुष्ठान से समर्थ हो" यहाँ हृदय का स्थान कण्ठ देश कहा है।

2. 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः ....' दशांगुलम् ॥1॥

संस्कृत भाष्य–एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशांगुल-परिमितम् च तृतीयं गृह्यते।

हिन्दी अनुवाद—शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया है (यजु० अध्याय 31 मन्त्र 1) यहाँ भी हृदय का स्थान वही है अ० 18 मन्त्र 2 में कण्ठ देश में कहा गया है।

आश्चर्य की बात है कि राजवीर जी शास्त्री जैसे ऋषि दयानन्द के कट्टर अनुयायी ऋषि के यजुर्वेद के 18वें और 31वें अध्याय के भाष्य को तो स्वीकार न करें, जो सर्वथा प्रमाण के योग्य है, परन्तु प्रमाण-रहित किसी पौराणिक पण्डित के महीधर और वाचस्पति मिश्र की पुस्तकों से लेकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के उपासना विषय में लिखे हुये जाली लेख को "बाबा वाक्यं प्रमाण" माने बैठे हैं।

अच्छा तो यही है कि हमें पूर्वाग्रहों को छोड़कर महर्षि के आदेश को मानते हुये 'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के परित्याग करने में सदैव उद्यत रहना चाहिये।

❑❑❑

परिशिष्ट

श्री भवानी लाल जी भारतीय द्वारा लिखित ग्रन्थ ''नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती'' के पृष्ठ 106 पर एक घटना का उल्लेख है—

एक दिन जिस स्थान पर स्वामी जी उपदेश कर रहे थे, एक उजड्‌ड प्रकृति का व्यक्ति एक मोटा लट्‌ठ लेकर आया और उपेदश कर्ता संन्यासी को सम्बोधित करके कहने लगा— ''अरे साधु! तू ही मूर्ति-पूजा का खण्डन करता है और देवी-देवताओं की निन्दा करता है? बता इस लट्‌ठ को तेरे शरीर पर कहाँ मारकर तुझे समाप्त करूं?''

इस धृष्ट व्यक्ति की उद्‌दण्डता पूर्ण वाणी को सुनकर तो समस्त श्रोता-मण्डल ही स्तम्भित रह गया, किन्तु श्री स्वामी जी महाराज ने नितान्त अविचलित भाव से कहा—

'यदि तू मेरे उपेदशों को अनुचित समझता है तो इसका अपराधी तो मेरा यह मस्तिष्क (शिर) है, जो मेरे सारे विचारों का उद्‌गम-स्थल है। तुझे मेरे इस मस्तिष्क पर ही प्रहार करना चाहिये।'' यह कहकर स्वामी जी ने प्रखर दृष्टि से उस आततायी को देखा। उनके इस प्रकार दृष्टि-निक्षेप करने मात्र से ही उस हिंस्र-भावापन्न व्यक्ति का रोष लुप्त हो गया। चरणों में नत होकर उसने अपने अपराध की क्षमा-याचना की। निर्लेप संन्यासी के लिये क्षमा-दान कठिन नहीं था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की उपरोक्त घटना से आत्मा का स्थान शिरस्थ हृदय में सिद्ध होता है या छाती प्रदेश में? इसका निर्णय पाठकों की बुद्धि स्वयं ही कर सकती है।

मानव शरीर और जीवात्मा की आलोचनाओं का उत्तर

'राजवीर शास्त्री की बासी कढ़ी में उबाल'

श्री राजवीर शास्त्री एक रूढ़ीवादी व्यक्ति हैं जो बिना प्रमाण के बहुत सी बातों को समय-समय पर दुराग्रह के बल पर मानते रहते हैं, यदि कोई सत्यान्वेषी व्यक्ति उनके दुराग्रह पर आपत्ति करता है तो उसको उपना विरोधी समझने लगते हैं और भले व्यक्ति के अन्दर कई प्रकार के दोष निकालने लगते हैं उन्होंने 'दयानन्द सन्देश' नाम के मासिक पत्र में कई स्थानों पर इस एक दुराग्रह को दोहराया है कि (१) "(अथ यदिदं०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है।" (ऋ०भ० उपा० विषय)

अब आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् युधिष्ठिर जी मीमांसक ने जो संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं, अपितु वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के पारंगत विद्वान् भी हैं' राजवीर जी को समझाया कि 'छान्दोग्योपनिषद् प्र० 8 खण्ड 1 मन्त्र 1' की संस्कृत भाषा का यह हिन्दी अनुवाद महर्षि दयानन्द का लिखा हुआ कदापि नहीं हो सकता, यह किसी पौराणिक पण्डित का प्रक्षिप्त लेख

है। पण्डित जी ने ऋषि दयानन्द जी के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रक्षिप्त हिन्दी लेख का खण्डन किया परन्तु दुराग्रही श्री राजवीर शास्त्री ने मीमांसक के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। शास्त्री जी ने यही कहा कि सूक्ष्म विषय में ऋषियों के शास्त्रीय प्रमाण ही मान्य होते हैं और उन्हीं को मानना चाहिये। परन्तु ऋषि दयानन्द का सन्देश है कि "जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।" (सत्यार्थ प्रकाश—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)

मीमांसक जी ने ऋषि दयानन्द जी के आदेश को मानकर राजवीर जी के पूर्वाग्रह पूर्ण झूठ का पोल खोलना ही आवश्यक समझा। महर्षि दयानन्द ने जब वेदों के भाष्य का आरम्भ करना चाहा तो उन्होंने पौराणिक पण्डितों के वेद भाष्यों का अध्ययन किया। उन्होंने यजुर्वेद के भाष्यकार पौराणिक पण्डितों में से महीधर को चुना! ऋषि ने 'महीधर' को सबसे अधिक भ्रष्ट भाष्यकार माना और ऋषि ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ५१ वें विषय में ३२ पृष्ठों में खण्डन किया है।

इसी महीधर पण्डित ने यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के पहिले मन्त्र—"सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्द शाङ्गुलम्॥" के 'दशाङ्गुल' के भाष्य में लिखा है—

"यद् वा नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते 'कतम आत्मेत्युपक्रम्य ? सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरिति श्रुतेः विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अन्तर्यामिनो नियन्तृत्वेन॥"

मानव शरीर और जीवात्मा की आलोचनाओं का उत्तर

'राजवीर शास्त्री की बासी कढ़ी में उबाल'

श्री राजवीर शास्त्री एक रूढ़ीवादी व्यक्ति हैं जो बिना प्रमाण के बहुत सी बातों को समय-समय पर दुराग्रह के बल पर मानते रहते हैं, यदि कोई सत्यान्वेषी व्यक्ति उनके दुराग्रह पर आपत्ति करता है तो उसको उपना विरोधी समझने लगते हैं और भले व्यक्ति के अन्दर कई प्रकार के दोष निकालने लगते हैं उन्होंने 'दयानन्द सन्देश' नाम के मासिक पत्र में कई स्थानों पर इस एक दुराग्रह को दोहराया है कि (१) "(अथ यदिदं०) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है।" (ऋ०भ० उपा० विषय)

अब आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् युधिष्ठिर जी मीमांसक ने जो संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं, अपितु वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के पारंगत विद्वान् भी हैं" राजवीर जी को समझाया कि 'छान्दोग्योपनिषद् प्र० 8 खण्ड 1 मन्त्र 1' की संस्कृत भाषा का यह हिन्दी अनुवाद महर्षि दयानन्द का लिखा हुआ कदापि नहीं हो सकता, यह किसी पौराणिक पण्डित का प्रक्षिप्त लेख

है। पण्डित जी ने ऋषि दयानन्द जी के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रक्षिप्त हिन्दी लेख का खण्डन किया परन्तु दुराग्रही श्री राजवीर शास्त्री ने मीमांसक के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। शास्त्री जी ने यही कहा कि सूक्ष्म विषय में ऋषियों के शास्त्रीय प्रमाण ही मान्य होते हैं और उन्हीं को मानना चाहिये। परन्तु ऋषि दयानन्द का सन्देश है कि "जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।" (सत्यार्थ प्रकाश—स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)

मीमांसक जी ने ऋषि दयानन्द जी के आदेश को मानकर राजवीर जी के पूर्वाग्रह पूर्ण झूठ का पोल खोलना ही आवश्यक समझा। महर्षि दयानन्द ने जब वेदों के भाष्य का आरम्भ करना चाहा तो उन्होंने पौराणिक पण्डितों के वेद भाष्यों का अध्ययन किया। उन्होंने यजुर्वेद के भाष्यकार पौराणिक पण्डितों में से महीधर को चुना! ऋषि ने 'महीधर' को सबसे अधिक भ्रष्ट भाष्यकार माना और ऋषि ने अपनी ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के ५१ वें विषय में ३२ पृष्ठों में खण्डन किया है।

इसी महीधर पण्डित ने यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के पहिले मन्त्र—"सहस्रशीर्षापुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्द शाङ्गुलम्।।" के 'दशाङ्गुल' के भाष्य में लिखा है—

"यद् वा नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते 'कतम आत्मेत्युपक्रम्य ? सोऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरिति श्रुतेः विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अन्तर्यामिनो नियन्तृत्वेन।।"

अर्थात्—अथवा नाभि के पास से दश अंगुल के फासले पर हृदय में (जीवात्मा) स्थित है।।'' पौराणिक पण्डित महीधर का यह मत है कि जीवात्मा का स्थान उस हृदय में है जो नाभि से दश अंगुल ऊपर स्थित है। परन्तु ऋषिदयानन्द ने महीधर का खण्डन करते हुए लिखा है:—''दशागुंलमित.......... एवमेवा न्यदपिं जीवस्य हृदयं दशागुंल परिमितम् च तृतीयं गृह्यते।' अर्थात् शरीर में जो हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है।'' इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द जीवात्मा का स्थान नाभि के आसपास नहीं मानते थे। ऋषि का कहना है कि—'शरीर में जो हृदय देश है वह भी दशागुंल है' वह उससे पहले 'तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार मिलकर नव और दशवां जीव ये दस अवयव भी लिये जा सकते हैं।'' ऋषि दयानन्द की मान्यताओं का विरोध और महीधर की मान्यताओं का समर्थन करने वाले पौराणिक पण्डित ही थे। उन्हीं पण्डितों का अनुकरण करने वालों में एक राजवीर शास्त्री भी थे। उनका लिखना यह है—'महर्षि के लेखानुसार.... पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना जाता है।' इसी पृष्ठ पर शास्त्री जी ने लिखा है—कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है।'

इस लेख पर बुद्धिमान् निश्चय करें कि राजवीर जी का यह लेख महीधर की मान्यता का समर्थक है या ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त का?

शास्त्री जी ने 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के प्रमाण में कई ऋषियों का उल्लेख किया था। उसमें महर्षि व्यास का भी उल्लेख किया था। वहाँ भी 3|34 सूत्र का प्रमाण ही लिखा था,

परन्तु अपने झूठ को छुपाने के लिये 'ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात्'' इतना ही लिखा था, इसमें न तो वाक्य को पूरा किया और न ही हिन्दी भावार्थ किया। यहाँ पर ही 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के बहाने तीन ऋषियों का उल्लेख किया था, किन्तु इन ऋषियों के लेख में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं था कि जिससे जीवात्मा के स्थान का प्रमाण मिलता हो। परन्तु फिर भी बेशर्मी से पौराणिक पण्डित वाचस्पति मिश्र के आदेश से दहरं का अर्थ गर्त्त मानकर लिखा ''इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा का स्थान नाभि से दश अंगुल ऊपर दोनों स्तनों के मध्य ही है'' यह कथन झूठ ही नहीं है अपितु मर्यादा रहित भी है? साधारण व्यक्ति भी जानता है कि 'इससे स्पष्ट है' वाक्य उस समय ही कहा जाता है कि जब कोई व्यक्ति पहिले किसी बात की प्रतिज्ञा करता है और वह प्रतिज्ञा पूरी कर देता है, तो फिर वह कह सकता है:—

इससे स्पष्ट है कि जीवात्मा.... दोनों स्तनों के मध्य ही है'' परन्तु शास्त्री ने सब मर्यादायें तोड़ फोड़ दी। मैं अच्छी प्रकार से अनुभव कर चुका हूँ कि राजवीर जी पूर्ण रूप से ऋषि दयानन्द और पतञ्जलि व्यास ऋषियों के सिद्धान्तों के विरोधी हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'सहस्रशीर्षा' मन्त्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द का लेख महीधर के भाष्य का खण्डन करता है, परन्तु राजवीर ऋषि दयानन्द के लेख का तिरस्कार करता है और वह महीधर के सिद्धान्त की पुष्टि में लिखता है—

''पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से दश (१०) अंगुल ऊपर माना है (दिसम्बर १९८३ पृष्ठ १३) दूसरी ओर महर्षि व्यास के

दहरं (सूक्ष्म) अर्थ का विरोध करके वाचस्पति मिश्र के दहरं (गर्त्त) गड्ढा अर्थ का अनुमोदन करता है।''

मैंने अपनी पुस्तक 'मानव शरीर और जीवात्मा' में राजवीर शास्त्री के लेख 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के १३, १४, २१ पृष्ठों में लिखे गये मसाले को पूर्णरूप से अनर्गल और झूठा सिद्ध कर दिया था इसके प्रत्युत्तर में राजवीर शास्त्री ने एक शब्द भी नहीं लिखा, केवल इतना ही लिखा कि—''इसी पुस्तक में स्वामी जी ने प्रमाण दिये हैं, उन पर सम्यक् विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन प्रमाणों का अन्यथा भाव निकालने का प्रयास किया गया है और प्रमाणों को ही प्रमाणाभास बनाने के कारण पर्याप्त असन्तोष हुआ। यद्यपि जीवात्मा का स्थान हृदय में सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, किन्तु यह हृदय कहाँ है? मस्तिष्क में या महर्षि दयानन्द द्वारा व्याख्यात नाभि से ऊपर स्तनों के मध्य गर्त्त विशेष में, यह विद्वानों तथा योग साधकों की गवेषणा का विषय है।'' राजवीर ने उत्तर तो दिया नहीं, गिड़गिड़ाना ही किया ! यदि शास्त्री जी में सच्चाई थी तो उनको चाहिये था कि वह अपने प्रमाणों को लिखते और उन प्रमाणों के प्रमाणाभास को दिखलाते। परन्तु उनका सारा लेख झूठ से ही भरा हुआ था, तो वह उनका समाधान क्या करते? इसलिये मैंने इस लेख का शीर्षक लिखा है—

'राजवीर शास्त्री की बासी कढ़ी में उबाल'

शास्त्री जी की पहली 'कढ़ी' बासी हो चुकी थी, वह सड़ भी गयी थी, उसमें शास्त्री जी ने उबाल देना चाहा है आपने लिखा है—

(क) (दो कानों की, दो नाक की, दो नेत्रों की, एक मुख की) इन सात ज्योतियों के बीच में ही हृदय है। इस हृदय में ही जीवात्मा का स्थान है (४२ पृ० पर)

(ख) हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है। (५१ पृ०)

प्राण वायु का स्थान कण्ठ प्रदेश में कहा गया है और उस देश को हृदय जीवन मूल कहा है।

(ग) शिर कपाल के ऊपरी भाग में मूर्धा है, उससे नीचे वृहद मस्तिष्क ... (४१ पृ०) बृहद् मस्तिष्क में हृदय देश है (५२ पृ०)

"इन तीनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि लेखक ने बृहद् मस्तिष्क, कण्ठ तथा कान से लेकर मुख तक जो मध्य स्थान है, उसे हृदय स्थान माना जाता है, जो कि पृथक् पृथक् स्थान हैं।

समाधान–राजवीर जी का यह आरोप उनकी बुद्धिहीनता के कारण है वह अपनी कल्पनाओं में ही मस्त रहते हैं। मैंने जो कुछ लिखा है वह सब ऋषियों के वचन ही हैं।

(क) परम ऋषि भगवान् पिप्पलाद का वचन—यथा सम्राडेवाधिकृतवान् विनियुंक्ते, एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष 'प्राण' इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते।। अनुवादक स्वामी सत्यानन्द जैसे कोई महाराजा अपने अधिकारियों को काम में लगाता है और कहता है इन ग्रामों को, इन ग्रामों को तू शासन कर ऐसे ही यह 'प्राण' दूसरे प्राणों को पृथक्, पृथक् स्थान तथा काम पर लगाता है।"

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां 'प्राणः' स्वयं प्रतिष्ठते। मध्ये तु समानः एष ह्येतदद्धुतमन्वं समं नयति, तस्मादेताः सप्रार्चिषो भवन्ति।।

इसका अनुवाद—मल मूत्र त्याग के अवयवों में अपान वृत्ति को जोड़ता है। आँख, कान और मुख नासिका में 'प्राण' आप रहता है। देह के मध्य में अर्थात् कण्ठ से नाभि तक समान रहता है यह ही इस खाये हुये अन्न को पचाता है। इसलिये ये सात ज्योतियाँ हैं। समान से पचाये हुए से सात ज्योतियाँ जगती हैं, दो कानों की, दो नाक की, दो नेत्रों की और एक मुख की'' इससे आगे पिप्पलाद ऋषि लिखते हैं—'हृदि ह्येष आत्मा! अत्रैतदेकशतं नाड़ीनाम्'' अनुवाद—यह देह में रहने वाला आत्मा हृदय में ही है। यहाँ हृदय में ये एक सौ एक नाड़ियाँ हैं।''

ऋषि पिप्पलाद के आदेश से ही मैंने यह लेख लिखा है कि—सात ज्योतियों के बीच में ही हृदय है। इसकी पुष्टि महर्षि व्यास ने भी की है ऋषि ने लिखा—(प्रश्नोपनिषद् तीसरा) [पातजंल योगतृतीयविभूति पाद]

प्राणो मुखनासिका गतिराहृदयवृत्तिः'

इसका हिन्दी अनुवाद श्रीमत्परमहँस परिव्राजकाचार्य स्वामी विज्ञानाश्रम जी ने किया—'प्राण' मुख नासिका द्वारा गति करने वाला हृदय पर्यन्त बर्तता है।''

(ख) हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है—देखिये यजुर्वेद संस्कृतार्यभाषाभाष्यम् दयानन्द कृत—वेदमन्त्र—प्राणश्च मे पानश्च मे ऽसुश्च भाषार्थः—(मे) मेरा (प्राणः) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन।' ऋषि दयानन्द आर्य समाज के प्रवर्तक, वेदों के अपूर्व विद्वान् अखण्ड ब्रह्मचारी, योगेश्वर दयानन्द के प्रमाणों को शिरोधार्य करता हूँ। इसलिये मेरा यह लेख निर्दोष है। (यजुर्वेद १८।२।)

(ग) शिर कपाल के ऊपरी भाग में मूर्धा है, उससे नीचे वृहद मस्तिष्क .... वृहद मस्तिष्क में हृदय देश है......... हृदयादि तत्त्व मस्तिष्क में रहते हैं...... इन तीनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि लेखक ने वृहद् मस्तिष्क कण्ठ तथा कान से लेकर मुख तक जो स्थान है उसे हृदय स्थान माना है जो कि पृथक् पृथक् स्थान हैं। और कण्ठ के विषय में योगदर्शन में (३।३०) सूत्र के भाष्य में लिखा है—'जिह्वाया अधस्तात् तन्तुस्तन्तोरधस्तात् कण्ठः।'' अर्थात् जिह्वा के नीचे सूत की भाँति नस है। उसके नीचे कण्ठ है क्या यह कण्ठ और बृहद् मस्तिष्क का भाग एक हो सकते हैं?

समाधान—बुद्धिहीनता के कारण मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता है वह अपनी मनमानी बातें करता है? राजवीर जी ने इसी कारण कण्ठ तथ कान से लेकर मुख तक को मध्य स्थान माना है और यह अबोधता की निशानी है। एक विद्वान् से लेकर साधारण व्यक्ति भी जानता है कि मुख आदि अवयव शरीर के मध्य स्थान में नहीं है। यजुर्वेद अध्याय ३५ में, अथर्ववेद काण्ड १९ में तथा अथर्ववेद के १०।८।९ में, कठोपनिषद् की ६ वल्ली मन्त्र १ में और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों में यह स्पष्ट लिखा है कि मनुष्य के शरीर की रचना एक ऐसे वृक्ष के समान है जिसका मूल भाग ऊपर की ओर हो, और उसकी शाखायें नीचे की ओर हों और उसका मध्य भाग वृक्ष के तने के समान हो। इसलिये मनुष्य के शरीर को षडंग कहा जाता है इसका ऊपर का भाग शिर कहलाता है जो शिर की ऊपरी खोपड़ी से लेकर मुख तक कहा जाता है शरीर का दूसरा भाग गले से लेकर गुप्ताँगों तक माना जाता है। दो हाथ और दो पैर ये

चार शालायें मानी जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य का शरीर षडंग (छ अंगों वाला) कहा जाता है। अतः राजवीर जी का ऐसा कहना कि 'क्या यह कण्ठ और वृहद् मस्तिष्क का भाग एक हो सकता है? यह बुद्धिहीनता का ही परिणाम है। राजवीर जी की बुद्धि में योग दर्शन (३।३०) का व्यास भाष्य नहीं आया है।

जिह्वा के नीचे सूत की भाँति नस है उसके नीचे कण्ठ हैं। यह सत्य है, परन्तु जिह्वा तो मुख का ही भाग है। अथर्ववेद में लिखा है— कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणि मुखम्।'

अर्थात्—परमात्मा ने सात खानि (इन्द्रियों के गोलक दो कान, दो नासिका, दो आँखे और एक मुख के छिद्रों को सिर के अन्दर विशेष रूप से घड़ कर बनाया है। आगे यह भी लिखा है—

'हन्वोर्हि जिह्वामदधात्' अर्थात् दोनों जबड़ों के बीच में जिह्वा को रखता है। (२।६।७)

राजवीर जी का स्वभाव झूठ बोलने का ही है कि उसने सिर में रहने वाले तत्त्वों को मध्य स्थान में ही बतला दिया। कण्ठ और जिह्वा तत्त्व दोनों एक साथ रहते हैं इनके अलग अलग होने पर बोलचाल का सारा कार्य समाप्त हो जाता है। इनको पृथक् पृथक् मानने वाला व्यक्ति बुद्धिमान् नहीं कहा जाता। उसने मेरे ऊपर ये आरोप लगाये हैं। (ख) हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है' प्राण वायु का स्थान कण्ठ प्रदेश में कहा गया है और उस देश को हृदय जीवन मूल कहा है।' यह मेरा अपना निजी लेख नहीं है। यह ऋषि दयानन्द का निजी लेख है। स्वामी जी ने अपने हाथ से लिखा "(मे) मेरा (प्राणः) हृदय

जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन'' राजवीर ने यह झूठा आरोप लगाया। यदि उसमें सच्चाई थी तो उस लेख को ऋषि दयानन्द का लेख क्यों नहीं बतलाया? इसमें राजवीर का झूठ और भीरुता दोनों शामिल हैं। राजवीर शास्त्री के झूठ और भीरुता का प्रमाण यह है कि उसने १३-८-८४ को एक पत्र मुझे लिखा था जिसमें लिखा था—''ऋषि दयानन्द ने प्राण को 'हृदयस्थ वायु' माना है और उदान को 'कण्ठदेशस्थं'। किन्तु 'लेखक' ने प्राण को ही हृदयस्थ तथा कण्ठस्थ माना है और ऋषि ने हृदिस्थो वायुः। अर्थ लिखा है, 'क्या उसका हृदय जीवन मूल' अर्थ हो सकता है? मेरे पास अजमेर का प्रकाशन नहीं है ट्रस्ट का ही है। मैं समझता हूँ कि दोनों में संस्कृत भाष्य में अन्तर नहीं होना चाहिये। और जो बात संस्कृत में नहीं है वह हिन्दी में कहाँ से आ गई? जो लेखक ऋ० भू० की हिन्दी को पण्डितों का लिखा कहकर प्रक्षेप मानते हैं क्या उन्हें ध्यान नहीं आया कि यह भावार्थ भी पण्डितों का ही है इसमें संस्कृत से भिन्न व्याख्या को कैसे माना लिया? और मन्त्र के प्राण शब्द का हृदय जीवन मूल अर्थ किस विद्वत्ता का परिचायक है?'' राजवीर जी ने सूचना दी है कि यजुर्वेद के अध्याय १८ के मन्त्र २ का संस्कृत भाष्य तो महर्षि दयानन्द का है, परन्तु मन्त्र का हिन्दी लेख लेखक का है। राजवीर का कपट और झूठ यह है कि उसने लेखक का परिचय नहीं दिया। यजुर्वेद भाष्य ऋषि दयानन्द का बनाया हुआ है जो संस्कृत और आर्य्य भाषा में लिखा गया था इसका यह संस्करण सम्वत् २०१७ विक्रमी में अजमेर नगर में वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित हुआ था जिसको २३ वर्ष बीत चुके हैं। इसके लिखने में मेरा कोई सम्पर्क नहीं हुआ

है। परन्तु राजवीर ने अपने पत्र 'दयानन्द सन्देश' अक्टूबर ८४ में मेरे ऊपर आरोप लगाया है कि (ख) हृदय का स्थान कण्ठ देश में रहता है—प्राण वायु का स्थान कण्ठ प्रदेश में कहा गया है और उस देश को, हृदय जीवन मूल कहा है।'' यद्यपि यह सब कुछ ऋषि दयानन्द का लिखा हुआ है परन्तु राजवीर जी ने बुद्धि हीनता के कारण वास्तविक लेख को न मानकर किसी अन्य को 'लेखक' कह दिया और अभिमान से चूर होकर लिखा—

उसमें संस्कृत से भिन्न वाक्य को कैसे मान लिया? और मन्त्र के 'प्राण' शब्द का 'हृदंय जीवन मूल' अर्थ किस विद्वत्ता का परिचायक है।''. राजवीर जी का यह अभिमान पूर्ण लेख अत्यन्त मूर्खता का परिचायक है। राजवीर जी विद्या इतनी ही है कि उसने किसी पाठशाला में शास्त्री परीक्षा पास की है और किसी स्कूल में मास्टरी का काम करता है, वैदिक साहित्य से उनका परिचय नाम मात्र को है परन्तु अपने आप को ऋषि दयानन्द से भी ऊपर मानता है और मुझे पत्र में लिखता है मन्त्र के प्राण शब्द का हृदय जीवन मूल अर्थ किस विद्वत्ता का परिचायक है? यदि राजवीर जी ऋषि दयानन्द के साहित्य को कुछ पढ़ने का प्रयत्न करते तो समझा भी जा सकता था। परन्तु उसने तो सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास को भी नहीं पढ़ा जिसमें ऋषि दयानन्द ने ईश्वर के १०० नामों की व्याख्या की है। ऋषि ने प्राण शब्द के महत्त्व को इसे प्रकार से लिखा है—

'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्'' प्राण की प्रशंसा में अथर्ववेद ११।४।१ में २६ मन्त्र है।

ऋषि ने लिखा—सबका जीवन मूल होने से 'प्राण' कहा जाता है। इसीलिये यजुर्वेद १८।२ में ऋषि ने लिखा—(मे) मेरा (प्राण:) हृदय जीवन मूल—कण्ठ देश मे रहने वाला पवन, मन्त्र में उदान शब्द नहीं है, इसलिये प्राण की समीपता के कारण कण्ठ प्रदेश में प्राण वायु को कहा। शास्त्री जी का यह कथन अनभिज्ञता के कारण से ही लिखा है कि कण्ठ में प्राणवायु रहता है अथवा उदान वायु यह भी बिना विचारे लेखक ने लिखा है' शास्त्री जी को अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए कि यजुर्वेद १८।२ में दोनों लेख संस्कृत और आर्य भाषा में ऋषि दयानन्द के ही लिखे हुए है। आपने इसी लेख में लिखा है—"यह भी निर्णीत मान्यता है कि सूक्ष्म शरीर में परिवेष्टित रहता है। और सूक्ष्म शरीर के १७ घटक हैं पाँच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म भूत, मन और बुद्धि।" यह कथन तो सरल है क्योंकि आपने महर्षि दयानन्द के नवम समुल्लास में से इसकी नकल कर ली है परन्तु इसकी वास्तविकता को जानने में सर्वथा असमर्थ है। सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति' के साथ नवम समुल्लास के कथन का समन्वय करने की आप में वैज्ञानिक और वैदिक क्षमता नहीं है मेरा अनुमान है कि आपने अथर्ववेद का पारायण ही नहीं किया है जिसमें ११।४१ में २६ मन्त्रों द्वारा 'प्राण' की अनुपम महिमा है। और अपने को योगभाष्याचार्य कहने में गर्व भी करते हैं, परन्तु महर्षि व्यास के 'समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम् (व्यास भाष्य ३।३९ पातञ्जलयोगसूत्र) पर विचार ही नहीं किया होगा? इसका हिन्दी अनुवाद श्रीमत्परमहंस परिब्राजकाचार्य स्वामी विज्ञानाश्रम ने किया—"समस्त इन्द्रियों को वर्तने वाले प्राण उदानादि जीवन के आधार हैं।" मुण्डकोपनिषद् में कहा—'एतस्माज्जायते प्राणो

मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' फिर कहा 'स 'प्राण स्तुवाङ्गमनः' वह ईश्वर प्राण है वह वाणी और मन है।''

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ५ खं १ में शरीर के अन्तर्गत प्राण और इन्द्रियों का पारस्परिक आलंकारिक सम्वाद है, जिसमें ४ इन्द्रियों वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन एक ओर हैं और प्राण अकेला ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है। वाक् को वसिष्ठ, चक्षु का प्रतिष्ठा, श्रोत्र को सम्पत् और मन को आयतन कहा है। इसमें यह आख्यायिका है 'एक दो इन्द्रियादि प्राण यह श्रेयिसंवाद में मैं बड़ा हूँ, इस विषय में मैं बड़ा हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, ऐसे परस्पर विवाद करने लगे। 'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितर मेत्योचु' .... वे प्राण जैवी शक्तियाँ और सामर्थ्य—प्रजापति पिता के पास पहुँचकर बोले—भगवन् हमारे में कौन सामर्थ्य श्रेष्ठ है? उनको वह बोला—तुम्हारे में से जिसके निकल जाने पर शरीर अति पापी सा (मृत सा) दीख पड़े वह तुम्हारे में श्रेष्ठ है। ' सा ह वागुच्चक्राम' प्रजापति से यह सुनकर वह वाणी देह से बाहर निकल गई, वह वर्ष भर बाहर रहकर फिर शरीर के समीप आकर अन्य प्राणों को बोली तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके? उन्होंने कहा जैसे गूंगे न बोलते हुए घ्राण इन्द्रिय से साँस लेते हुए, आँख से देखते हुए, कान से सुनते हुए, और मन से विचारते हुए जीते रहते हैं। ऐसे हम जीवित रहे। वाणी अपनी अश्रेष्ठता को जानकर शरीर में प्रविष्ट हो गई।

चक्षु और श्रोत्र भी इसी प्रकार से एक-एक वर्ष तक बाहर रहते रहे और शरीर उनके बिना भी जीवित रहा और चक्षु और श्रोत्र ने उस शरीर में प्रवेश किया। फिर मन निकला एक वर्ष के अनन्तर उसने आकर पूछा तो उसे बताया गया जैसे बालक मन बिना, नाक से प्राण लेता हुआ वाणी से बोलता हुआ, आँख से

देखता हुआ, कान से सुनता हुआ रहता है ऐसे ही हम जीवित रहे। मन भी देह में प्रविष्ट हो गया।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्स यथा सुहय: पडवीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्। तं हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि। त्वन्न: श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति।।१२।।

अर्थात्—तत्पश्चात् प्राण निकलने लगा। जैसे कशा से ताड़ा हुआ उत्तम घोड़ा पांव बाँधने के खूँटों को उखाड़े ऐसे ही प्राण ने सारे प्राणों को चलायमान कर दिया तब सारे प्राण उसके पास आकर बोले—भगवन् ! हमारा स्वामी बन। हमारे में तू ही श्रेष्ठ है यहाँ से न निकल।" छान्दोग्यापनिषद् के इस प्रपाठक ५ में मुख्य प्राण को आलंकारिक रूप से शरीर की चार मुख्य इन्द्रियों—वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन के ऊपर प्राण को अधिष्ठाता बतलाया है और शरीर की सब शक्तियों में प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ माना गया है और इसीलिये यजुर्वेद १८।२ मन्त्र मे आये हुए प्राण, अपान और व्यान नाम के प्राण शब्दों को ऋषि दयानन्द ने १८।२ मन्त्र के शब्दों का पूर्णतया आर्य भाषा में लिखा है परन्तु महीधर और वाचस्पति मिश्र के अनुयायी राजवीर शास्त्री ने यजुर्वेद के १८।२ मन्त्र के आर्य भाषा भाष्य का खण्डन किया है। ऋषि दयानन्द का विरोध करने के लिये ऋषि दयानन्द के सर्वोत्तम ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के पाँचवें समुल्लास के दो मन्त्रों का भी खण्डन किया है। दोनों मन्त्र इस प्रकार से है—

(१) "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित:।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।
(कठोपनिषद् अ० १ वल्ली २ मं० २४)

अनुवाद–'जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं वह संन्यास लेकर भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता'' (ऋषि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ५)

ऋ० भा० भू० उपासना—यह उपासना योग दुष्ट मनुष्यों को सिद्ध नहीं होता। क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक वह कितना ही पढ़े या सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।''

(२) शान्ता विद्वांसो तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।

सूर्य्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति य अमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा''॥

(मुण्डक १ ख २ मन्त्र ११)

ऋषि दयानन्द का आर्य्य भाषा भाष्य–जो विद्वान् लोग वन में तप धर्मानुष्ठान करके भिक्षा चरण करते हुए जंगल में बसते हैं, वे जहाँ नाश रहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहाँ निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं।''

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ५]

ऋ० भा० भू० उपासना विषय—[तप श्रद्धे] जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम से अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में या एकान्त स्थान में

स्थिरता के साथ, निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म करने दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् है, जो भिक्षा चरण कर्म करके अर्थात् प्राण स्थिति के लिये निर्वाह मात्र अन्न को ग्रहण करके संन्यास या किसी अन्य आश्रम में हैं, वे इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य [सूर्य्य द्वारेण] प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके [विरजा०] सब दोषों से छूटकर परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर, सब से सूक्ष्म [अमृत:] अविनाशी और जिसमे हानि लाभ कभी नहीं होता, विद्यमान हैं, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।।२।।

मैंने ऋषि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश के पाँचवें समुल्लास के दो मन्त्रों का अर्थ लिखकर साथ ही ऋ०भा०भू० उपासना प्रकरण के दो मन्त्रों का अनुवाद भी लिखा है ताकि राजवीर यह जान सके कि दोनों स्थानों के लेखों को लिखने वाला कोई एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति है? पहले ऋषि दयानन्द की लेखन शैली को देखना चाहिए कि किसी मन्त्र के भाष्य या अनुवाद की शैली का नियम क्या है।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के संस्कृत लेखों का हिन्दी में अनुवाद प्रत्येक संस्कृत शब्द के अनुसार है। उस सारे मन्त्र के एक शब्द भी ऋषि ने अपनी ओर से कुछ नहीं लिखा परन्तु ऋ०भा० के लेखक ने मन्त्रों के संस्कृत शब्दों का विचार ही नहीं किया। लेखक ने अपनी मनमानी बातें ही लिखी हैं। उन्होंने ही छन्दोग्योपनिषद् ८१।१ मन्त्र में भी मन्त्र के संस्कृत शब्दों का अनुवाद न करके अपने मनमानी बातें ही लिखी हैं। मैं पहले यह

सिद्ध कर चुका हूं कि राजवीर जी शास्त्री ने अपने किन्हीं साथियों के साथ मिलकर महर्षि दयानन्द के वेद और वैदिक सिद्धान्तों को भ्रष्ट करने पर उतारू हैं। मैंने इसी अभिप्राय से ऋषि दयानन्द के प्राणश्च मे, ऽपानश्च मे व्यानश्च मे .... कथनों को अनेक बार दोहराया है और आगे भी अनेक बार दोहराता रहूँगा ताकि आर्य सज्जन इन दयानन्द के शत्रुओं से सजग रहें। मैं ऋषि की इस शैली को लिख चुका हूं कि ऋषिवर वेद मन्त्रों के शब्दों का अनुवाद या भाष्य दूसरी भाषा के अनुरूप ही करते थे।

यजुर्वेद के १८।२ मन्त्र में जितने भी शब्द है उनमें से एक भी शब्द ऐसा नहीं जिसका आर्य भाषानुवाद ऋषि दयानन्द ने अपने लखे में न किया हो और कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता कि हिन्दी अर्थ अशुद्ध है राजवीर जैसा कोई अधकचरा ऋषि दयानन्द के विरोधी होने के कारण करता फिरे तो उसका मूल्य ही क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि राजवीर जी के जीवन का सहारा झूठ ही है? देखिये—

"तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्व ब्रध्नस् तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

तदासत ऋषय सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः (अथर्व० १०.८.९)

इस मन्त्र की व्याख्या श्री पं० क्षेमकरण ने इस प्रकार की है—

[तिर्यग् बिलः] तिरछे बिल [छिद्र] वाला [ऊर्ध्व ब्रध्नः] ऊपर से बन्धन वाला [चमसः] पात्र [अर्थात् मस्तिष्क] है [तस्मिन्] उस

[पात्र] में [विश्वरूपम्] सम्पूर्ण [यशः]यश [व्याप्ति वाला सामर्थ्य] [निहितम्] स्थापित है [तत्] उस [पात्र] में [सप्त] सात [ऋषयः] ऋषि [ज्ञानकार व मार्ग दर्शक इन्द्रियाँ] [साकम्] मिलकर [आसते] बैठते हैं [ये] जो [अस्य] इस [महतः] बड़े [शरीर] के [गोपा] रक्षक [बभूवुः] हुए हैं।''

इस कथन में राजवीर जी का झूठ बेशर्मी तक पहुँच गया, क्योंकि लिखा तो यह था—'इस मन्त्र की व्याख्या श्री पं० क्षेमकरण जी ने इस प्रकार की है' परन्तु राजवीर ने इस लेख में अपना झूठ घुसेड़ दिया। पं० क्षेमकरण जी का लेख इतना ही था—''[तिर्यग्विलः] तिरछे बिल वाला [ऊर्ध्व ब्रध्नः] ऊपर को बन्धन वाला [चमसः] पात्र है [तस्मिन्] उसमें [विश्वरूपम्] सम्पूर्ण [यशः] यश [निहितम्] स्थापित है [तत्] उसमें [सप्त] सात [ऋषयः] ऋषि [साकम्] मिलकर [आसते] बैठते हैं [ये] जो [अस्य] इस [महतः] बड़े के [गोपाः] रक्षक [वभुवः] हुए हैं।।' यह लेख पण्डित क्षेमकरण जी का है।

यद्यपि मैंने इस मन्त्र का भाष्य चतुर्वेद भाष्यकार पण्डित जयदेव विद्यालंकार शर्मा के लेख को लेकर लिखा है, मैंने अपनी ओर से एक शब्द भी नहीं लिखा तथापि पं० क्षेमकरण जी के भाष्य में मेरे सिद्धान्त का लेश भर भी उससे खण्डन नहीं होता जबकि राजबीर जी ने अपनी ओर से पं० क्षेमकरण के लेख में ये शब्द घुसेड़े हैं—''छिद्र, मस्तिष्क, पात्र व्याप्ति वाला सामर्थ्य, पात्र, ज्ञानकारक वा मार्ग दर्शक इन्द्रियाँ, पात्र शरीर।'' इसमें शास्त्री जी ने तिरछे—ऊपर को पैंदे वाला के स्थान में छिद्र, ऊपर को बन्ध वाले के स्थान मस्तिष्क, यश के स्थान में व्याप्ति वाला सामर्थ्य, ऋषयः के स्थान में ज्ञानकार वा मार्ग दर्शक, महतः बड़े के स्थान में शरीर।'' किसी लेखक के लेख

को संदिग्ध बनाने के लिये अपनी घुसपैठ बनाने वाला व्यक्ति अत्यन्त नीच कहा जाता है। आगे इस लेख को भ्रष्ट करने के लिये शास्त्री लिखते हैं—इस मन्त्रार्थ पर सम्यक् विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें स्थूल भौतिक शरीर से शिर तथा शिरस्थ बाह्येन्द्रियों का ही वर्णन है। ये नेत्रादि इन्द्रियाँ ही गर्त्तादि स्थानों में सन्मार्ग दिखाकर शरीर की रक्षा करती है। लेखक ने इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऐसी ही की, किन्तु उत्तरार्ध की व्याख्या में अपनी मिथ्या मान्यता का समावेश करने का प्रयास करते हुए लिखा है। "(तत्) वहां उस शक्तिमान् आत्मा में (सप्त ऋषयः) सात ऋषि द्रष्टा सात शीर्षगत प्राण (साकम्) एक होकर (आसते) विराजते हैं (ये) जो (अस्य महतः) इस महान् आत्मा के (गोपाः) रक्षक?"

यदि कोई साधारण व्यक्ति भी राजवीर के इस लेख को पढे कि—ये नेत्रादि इन्द्रियां ही गर्त्तादि स्थानों से सन्मार्ग पर दिखाकर शरीर की रक्षा करती है तो वह व्यक्ति यही कहेगा कि यह व्यक्ति पागल हो गया है जो चक्षु, श्रोत्र, नासिका के छः अंगों और मुख में जिह्वा आदि सात इन्द्रियों का काम गर्त्तादि स्थानों से सन्मार्ग दिखाकर शरीर की रक्षा करती है। यह तो सब जानते हैं कि शरीर में रहने वाली इन्द्रियां ही मनुष्य के जीवन का आधार हैं। वह जीवात्मा ही शिरस्थ देश में रहता हुआ इन्द्रियों से काम लेता है इन्द्रियों से काम लेने के कारण जीवात्मा इन्द्रियवान् 'इन्द्रः' कहलाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के ऋषि ने लिखा है—'य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः' अर्थात् जो यह स्तन की भाँति माँस लटकता है वह आत्मा का मुख्य स्थान है। (तै० उ० छठा अनुवाक्) बृहदारण्यक० अ० ४ ब्र० २ में भी आत्मा को इन्द्र कहा है।

राजवीर जी का पेशा ही झूठ बोलने का है। किस आधार पर? 'क्योंकि तत् सर्वनाम है और वह संज्ञा के स्थान पर प्रयुक्त होता है। यह याद रखना चाहिए कि यह मन्त्रार्थ मेरा नहीं है इसके लेखक चतुर्वेद भाष्यकार जयदेव विद्यालंकार शर्मा है। श्री पं० क्षेमकरण जी ने भी तत् का अर्थ 'उसमें' किया है, इसी प्रकार तस्मिन् शब्द का अर्थ 'उसमें ही किया है। 'ऐरा गैरा नत्थू खैरा' जैसे व्यक्ति की बात को मान लेना अनुचित है। वैदिक साहित्य के व्याकरण को जानने के लिये विद्वानों की सम्मति लेनी चाहिये। पं० जयदेव जी ने वहां उस शक्तिमान् आत्मा में सप्त ऋषि दृष्टा कहा है'' पं० क्षेमकरण ने उसमें सात ऋषि मिलकर बैठते हैं लिखा है। इन दोनों विद्वानों के भावार्थों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु का राजवीर ने 'चमस' पद का अर्थ मस्तिष्क लिखना बड़ा भारी झूठ और चोरी है। 'तिर्यग्बिल' को छिद्र कहना भी झूठ है, क्योंकि छिद्र तो ऊपर नीचे दायें बांयें बहुत प्रकार से होते हैं परन्तु तिर्यक् या तिरछा एक ही सीमा की ओर संकेत करता है। परन्तु राजवीर को झूठ बोले बिना सन्तोष नहीं आ सकता? 'चमस' शब्द का अर्थ पं० क्षेमकरण ने पात्र किया है, पं० जयदेव जी ने चमस का अर्थ लिखा है और बृहदारण्यक के ऋषि ने 'अर्वाग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एव' तिरछे मुख वाला और ऊपर को पैन्दे वाला चमस शिर ही है। परन्तु राजवीर जी के लिये झूठ बोलना आवश्यक है कि ऊपर पैन्दे वाले और नीचे तिरछे मुख वाले चमस (पात्र) को 'मस्तिष्क' ही कहे। राजवीर जी का आरोप है—

उस पात्र के किनारे किनारे सात ऋषि, सात प्राण, दो कान—गोतम और भारद्वाज, दो चक्षु, विश्वामित्र और जमदग्नि, दो नासिका—वसिष्ठ और कश्यप और मुख अत्रि, ये सात

ऋषि विराजते हैं (३ पृष्ठ) (यह वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के अध्याय २ ब्राह्मण २ मन्त्र ३।।

इस प्रकार इस मन्त्र में जीवात्मा के स्थान हृदय का वर्णन दिखाना अरण्य रोदनवत् ही है।'' यह लेख राजवीर जी की मूर्खता की निशानी है। उसकी इच्छा थी कि अथर्ववेद का लेखक राजवीर को पूछकर लिखता कि कौन से काण्ड और कौन से सूक्त के मन्त्र में जीवात्मा का स्थान होना चाहिये और परमात्मा कहां रहता है? राजवीर की दृष्टि में वेद निरर्थक है। राजवीर वेदों का पढ़ना पढ़ाना व्यर्थ समझते हैं। उसने बृहदारण्यक उपनिषद् जैसे प्रसिद्ध उपनिषद् को भी अरण्य रोदन कहा है।

किसी ने पूछा ईश्वर की सिद्धि किस प्रकार से करते हो? ऋषि दयानन्द ने उत्तर दिया—

''सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ऋषि ने उसको स्पष्ट करने के लिये लिखा—यह गौतम महर्षि कृत न्याय दर्शन (१।१।४) का सूत्र है जो श्रोत्र त्वचा, चक्षु, जिव्हा, घ्राण और मन का शब्द, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो।'' राजवीर जी को तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से घृणा है, वह तो अपनी मानी बात को ही प्रमाण मानते हैं। अथर्ववेद का मन्त्र था—'तिर्यग्बिलश्चमस........ अस्य गोपा महतो बभूवुः' इसका भाष्य तीन सज्जन पुरुषों ने किया, परन्तु राजवीर ने इन तीनों भाष्यों को ठुकरा दिया और अपनी मनमानी को ही लिखते रहे, उसके लिये सब तमाशा ही था। शिर की खोपड़ी और सात इन्द्रियों के चिन्ह भी थे परन्तु उनमें जीवात्मा नहीं था। किसी

महापुरुष ने सत्य कहा है-'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ। हौं बौरी ढून्डन गई रही किनारे बैठ।।' ऋषि दयानन्द ने ईश्वर जीव की प्राप्ति के लिये प्रमाणों को अत्यन्त आवश्यक समझा इसी आधार पर इतनी थोड़ी आयु में ही चारों वेदों और सब शास्त्रों के ज्ञान विज्ञान पर अपना अधिकार जमा लिया। राजवीर स्वामी दयानन्द का नाम तो लेते हैं, परन्तु वेदों से घृणा करते हैं वेदों का एक एक मन्त्र ज्ञान का भण्डार है परन्तु राजवीर ने 'तिर्यग्बिलश्चमस' को व्यर्थ ही समझ लिया। यही कारण है कि वेदों के पढ़ने से उसे कुछ हाथ नहीं लगा।

(३) राजवीर ने मेरी पुस्तक के (पृष्ठ ८) के अन्दर अथर्ववेद १०।२।६। मन्त्र में सप्त खानि को गढ़कर बनाने का वर्णन किया है, मूल मन्त्र में 'सप्तखानि' ही लिखा है परन्तु भाषार्थ में 'सात इन्द्रियों के छिद्र' लिखा है। इन्द्रियों को गढ़कर बनाने का लेख नहीं है। परन्तु भाष्यकार ने समझने की सरलता को जानने के लिये खानि के साथ इन्द्रियां भी लिखा है, इसलिये सावधानी के लिये मैंने लिखा है—

इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह नहीं समझना चाहिये कि इन मन्त्रों में इस देह की रचना के साथ इन्द्रियों की भी रचना होती है........इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं। मेरे इस लेख में न तो खण्डन है और न कोई अशुद्धि है। मैंने सर्वसाधारण को सचेत रहने की बात कही है। शत्रुभाव रखने वाला दुष्ट व्यक्ति इसमें दोष लगा सकता है। राजवीर जी का तो यह स्वभाव ही है इसे कौन रोक सकता है?

मेरी पुस्तक के पृष्ठ ८ पर ऋषि देखने वाले को कहते हैं, बाहर के सब विषयों का ज्ञान जीवात्मा को पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा

होता है। इसलिये अथर्ववेद १०।८।९। मन्त्र में इन्द्रियों को सात ऋषियों के नाम से पुकारा गया है। यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के ५५ वें मन्त्र में भी इन्द्रियों को ऋषि कहा है इसी प्रयोजन के लिये "सप्तऋषय प्रतिहिता शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।" परन्तु राजवीर को झूठ बोलना और शत्रुता दिखाना आवश्यक था, इसलिये यह झूठ बोला—'किन्तु प्रश्न का उत्तर तो नहीं बना" मेरा प्रश्न तो इतना ही था कि—'यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय में भी इन्द्रियों को ऋषयः कहा है' वह प्रश्न पूरा हो गया। परन्तु राजवीर ने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा और लिखा—आपका यह उत्तर वैसे ही असंगत है कि जैसे—आम्रान् पृष्ट कोविदारान् आचष्टे।"

(अक्टूबर १९८४ पृ० २१, २६ राजवीर दयानन्द सन्देश)

राजवीर जी ने व्यर्थ में बात का बतंगड बनाने का तो प्रयत्न किया, परन्तु महर्षि दयानन्द के यजुर्वेद ३४।५५ के भाष्य के महत्त्व को सर्वथा व्यर्थ समझा। मन्त्र के उत्तरार्ध में ऋषि ने लिखा था—"सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।।" ५५।।

पदार्थः—"वैसे ही (सप्त) सात (अप्रमादम्) जैसे प्रमाद अर्थात् भूल न हो वैसे (सदम्) ठहरने के आधार शरीर की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं। वे (स्वपतः) सोते हुए जन के (आपः) शरीर को व्याप्त होने वाला उक्त (सप्त) सात (लोकम्) जीवात्मा को (ईयुः) प्राप्त होते हैं (तत्र) उस लोक की प्राप्ति समय में (अस्वप्नजौ) जिनको स्वप्न कभी नहीं होता (सत्रसदौ) जीवात्मा की रक्षा करने वाले (च) और (देवौ) स्थिर गुणों वाले प्राण और अपान (जाग्रतः) जागते हैं।" "इस

शरीर में स्थिर व्यापक विषयों के जानने वाले अन्त:करण के सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही निरन्तर शरीर की रक्षा करते और जब जीव सोता है तब उसी को आश्रय कर तमोगुण के बल से भीतर को स्थिर होते किन्तु बाह्य विषयों का बोध नहीं कराते और स्वप्नावस्था में जीवात्मा की रक्षा में तत्पर तमोगुण से न दबे हुए प्राण और अपान जागते हैं अन्यथा यदि प्राण और अपान भी सो जावें तो मरण का ही सम्भव करना चाहिये'' ॥ ५५ ॥ भावार्थ।

ऋषि दयानन्द ने वेदों के ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयों को जानकर यजुर्वेद १८.२ 'प्राणश्च मे ऽपानश्च मे .... यज्ञेन कल्पन्ताम् मन्त्र के भाषा भाष्य में लिखा 'मेरा प्राण: हृदय जीवन मूल .... मेरा अपान नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में ठहरने वाला पवन ..... सब धर्म के अनुष्ठान में समर्थ हो''

वेद के इतने महत्त्वपूर्ण विषय को जो मनुष्य के जीवन का आधार है, देखकर ऋषिवर गदगद हो गये और वेद के १८। २ मन्त्र का आर्य भाषा में सुन्दर अर्थ करके सर्व साधारण के हृदयों को गदगद कर दिया, परन्तु हृदय से ऋषि दयानन्द का विरोधी और महीधर और वाचस्पति मिश्र का भक्त ऋषि द्वारा लिखे भाष्य को कैसे सहन कर सकता था? और ऋषि के सिद्धान्तों का प्रचार करने को अपराध समझता है।

राजवीर (५) इससे आगे लेखक ने (पूर्णानन्द ने) अथर्ववेद (१९।९।५) का मन्त्र उद्धृत करके लिखा है—'ये जो पांच इन्द्रियां मन सहित छ: है, इनको ब्रह्म ने मेरे हृदय में अच्छी प्रकार से स्थापित किया है।' यह प्रमाण भी मूल प्रश्न का उत्तर नहीं है। प्रश्न तो सूक्ष्म शरीर के घटक भूत ज्ञानेन्द्रियों, मन बुद्धि आदि घटकों का है, वे कहां पर रहते हैं, और आप आम्रान

पृष्ट: कोविदारान् आचष्टे इस लौकिक न्याय के अनुसार बाह्य इन्द्रिय गोलकों को बताकर सूक्ष्म शरीर के घटक ज्ञानेन्द्रियादि का निर्णय दे रहे हैं? और जीवात्मा तथा सूक्ष्म शरीर का आश्रय भूत हृदय स्थान कहाँ है? इस प्रश्न का उत्तर इस वेद मन्त्र में न होने पर भी अपनी मिथ्या मान्यता को इससे कैसे सिद्ध कर सकते हैं? और 'निष्कर्ष यह निकला कि हृदय भी शिरस्थ देश में है' यह लिखकर पाठकों की आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं।'' (राजवीर का कथन)

मेरा समाधान—'यह कथन राजवीर जी ने विद्या हीनता के कारण किया है क्योंकि 'विद्याविहीन: पशु:' कहा जाता है। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन किया है शरीर तीन हैं एक 'स्थूल' जो यह दीखता है, दूसरा ''पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्म' शरीर कहलाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म मरण में भी जीव के साथ रहता है।'' इसकी पुष्टि पातञ्जल योग में इस प्रकार से की है—

''प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'' यो० २।१८। (व्या० भाष्यम्)

''तदेतद्भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते

तथेन्द्रिभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमत इति। तत्तुनाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुररी कृत्य प्रवर्तत इति भोगापवगार्थं हि तद्दृश्यं पुरुषस्येति।''

अर्थात्—वह यह तीनों भूत और इन्द्रिय रूप है, उसमें भूत रूप से पृथिवी आदि सूक्ष्म स्थूल रूप से परिणाम होते हैं। वैसे ही इन्द्रिय रूप से श्रोत्रादि सूक्ष्म स्थूल परिणाम को प्राप्त होते हैं। वह बिना प्रयोजन नहीं है, किन्तु प्रयोजन के उद्देश्य से प्रवृत्त होते हैं। वह पुरुष का भूत इन्द्रिय उस पुरुष के ही भोग मोक्षार्थ है। यद्यपि इन्द्रियाँ सूक्ष्म है तथापि स्थूल शरीर में जीवात्मा के भोग और मोक्ष के लिये सूक्ष्म शरीर की इन्द्रियों के साथ स्थूल रूप गोलक मिल जाते हैं। (योग दर्शन द्वितीय साधन पाद १८)

यही बात साँख्य दर्शन में कही गई है वहाँ लिखा है:—'अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने (सां० २।२६ अर्थात्—इन्द्रिय अतीन्द्रिय है, किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा अन्य किसी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं होता। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों के अधिष्ठान गोलकों में इन्द्रिय की भ्रान्ति भ्रान्त व्यक्तियों को होती है। १९ । ९ । ५ अथर्ववेद में ये जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित छः हैं उनको ब्रह्म (ईश्वर) ने मेरे हृदय में अच्छी प्रकार से स्थापित किया है। वेद मन्त्र इस बात को स्पष्ट करता है कि स्थूल शरीर में इन्द्रियां बनाई नहीं जाती, अपितु शरीर में गोलकों के साथ अच्छी प्रकार से स्थापित किया जाता है और उनका स्थान मनुष्य के हृदय में ही होता है और इन्द्रियों की संख्या और स्थान का पता पहले भी अथर्ववेद के १०।२।६ मन्त्र में तथा १० । ८।९ में दिखाया जा चुका है। परन्तु राजवीर जी न तो शास्त्रों का अध्ययन करते, और न ऋषि दयानन्द के आदेशों को मानकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर विश्वास करते हैं, अपितु प्रमाणों का विरोध ही करते हैं। इनका न कोई सिद्धान्त है न कोई धर्म। अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये

दयानन्द सन्देश अपने पत्र का नाम रख लिया। 'कही की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा'

(राजवीर ६)—आपने आगे स्वपक्ष पोषण में निम्न मन्त्र उद्धृत किया है—

'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।

मस्तिष्कादूर्ध्व प्रैरयत् पवमानोऽशीर्षतः ।१।

"तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।

तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः (२)

(अ० १० । २ । २६-२७)"

'अर्थात् परमात्मा इस पुरुष के सिर को और हृदय को अच्छी प्रकार सीकर और हृदय को अच्छी प्रकार....... समस्त देहों को गति दे रहा है। अथवा प्रजापति का बनाया हुआ वह सिर ही देव कोष, देव अर्थात् इन्द्रियों का आवरणी या निवास स्थान बना हुआ है।' इन मन्त्रों से लेखक (पूर्णानन्द) की मान्यता तो सिद्ध नहीं होती। क्योंकि लेखक हृदय को मस्तिष्क का एक भाग मानता है और यहाँ स्पष्ट रूप से हृदय को मस्तिष्क से भिन्न माना है। और सिर में देवकोश = बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के गोलक बने हैं, इससे भी किसी की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु लेखक का यह कथन 'मनुष्य का शिर ही सब इन्द्रियों, मन, हृदय, प्राण, ज्ञान और आत्मा का केन्द्र और निवास स्थान है' इस मन्त्र से तो कदापि सिद्ध नहीं होती।'

(मेरा समाधान)—मैंने जो कुछ लिखा है वह अपने पाण्डित्य के आधार पर नहीं लिखा, और न ही मुझे अपने पाण्डित्य पर अभिमान है। मेरे लिखने का आधार महर्षि दयानन्द

के वेदादि शास्त्रों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर और वेद भाष्यों को करने वाले विद्वान् पण्डितों को लेकर ही लिखा है। मैंने एक शब्द भी प्रमाणों के बिना नहीं लिखा। परन्तु राजवीर जो एक स्कूल मास्टर मात्र है जो वेद के एक मन्त्र के अर्थ को भी नहीं जानता है फिर भी अपनी उद्दण्डता के कारण मेरा नहीं अपितु चारों वेदों के भाष्यकारों और ऋषि दयानन्द के भाष्यों का तिरस्कार करता है। इसकी अत्यन्त मूर्खता का परिचय इससे भी मिल जायेगा। कि १० । २ । २७। अथर्ववेद मन्त्र में 'शिरोदेवकोशः समुब्जितः' का भाष्य भाष्यकार जयदेव विद्यालंकार ने किया 'शिर ही (देवकोशः) देव कोश, देव इन्द्रियों का मूल आवरण का निवास स्थान (समुब्जितः) बना हुआ है, परन्तु राजवीर जी ने अपनी उद्दण्डता से लिखा—

और सिर में देवकोश = बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के गोलक बने है' इससे इसकी मूर्खता ही टपकी है। क्या कोई बुद्धिमान् इस बात की कल्पना कर सकता है कि वेद में लिखी हुई सब बातें एक मन्त्र के अन्दर समा सकती है? परन्तु एक ही व्यक्ति राजवीर यह कल्पना कर सकता है।

(राजवीर ७)—इन उपर्युक्त वैदिक प्रमाणों को दिखाकर भी जब लेखक को सन्तोष नहीं हुआ (क्योंकि इनसे लेखक की मान्यताओं की पुष्टि नहीं होती) तब लेखक महोदय ने चरकादि आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये। आयुर्वेद तो भौतिक शारीरिक रोगों का निवारण तथा उनके उपाय ही समझाता है। उसमें चेतनात्मा का वर्णन कहां हो सकता है? इस विषय में दिवंगतात्मा श्री पूज्य स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के निम्न वचन पठनीय हैं—

(क) ''चरक'' सुश्रुतादि आयुर्वेद के सिद्धान्त ग्रन्थों में आत्मा तथा उसके निवास स्थान का वर्णन नहीं किया गया। उन्हें उसके वर्णन की आवश्यकता भी न थी, क्योंकि आत्मा की चिकित्सा उनके शास्त्र का विषय नहीं था? (आत्मा का स्थान पृष्ठ ११)

(मेरा समाधान)—बुद्धिमान् व्यक्ति इस बात को जानता है कि सब मनुष्यों की रूचि और योग्यता एक जैसी नहीं होती। 'उत्तम, मध्यम और निकृष्ट' ये तीन प्रकार के मनुष्य कहे जाते हैं, इसलिये सत्य प्रिय और सर्व हितकारी व्यक्ति कई प्रकार के ग्रन्थों से अधिकारी पुरुषों की सेवा करता है। मैंने भी अपने जीवन का उद्‌देश्य यही बनाया हुआ है कि जब तक शरीर में बोलने, सुनने और लिखने की शक्ति है उस समय तक निःस्वार्थ सेवा करता ही रहूंगा। पाँच वर्ष की आयु से ईश्वर की भक्ति, आर्य समाज और देशभक्ति की चाह पैदा हो गयी थी और आज के दिन तक ८५ वर्ष और १ महीना २७ दिन हो चुके हैं।

चरक संहिता आयुर्वेद का सर्वोत्कृष्ट और प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ चरक संहिता भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। चरक संहिता के सूत्र स्थान अध्याय १७ में लिखा है-

'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।

यदुत्तमांगमगांनां शिरस्तदभिधीयते।।'

अर्थात्—''प्राणधारियों के प्राण जहाँ रहते हैं और जहाँ सारी इन्द्रियाँ भी रहती है, जो अंगों में सर्वोत्तम अंग है उसको शिर कहा जाता है।''

चरक संहिता के सूत्र स्थान अ० १७ के विषय में स्वामी आत्मानन्द ने एक शब्द भी नहीं कहा, परन्तु राजवीर का स्वभाव

झूठा होने के कारण इस विषय में अंकित कर दिया, स्वामी आत्मानन्द जी ने अपनी पुस्तक आत्मा का स्थान पृष्ठ ११ में लिखा है—"चरक सुश्रुतादि आयुर्वेद के सिद्धान्त ग्रन्थों में आत्मा तथा उसके निवास स्थान का वर्णन नहीं किया गया।" परन्तु चरक संहिता के सूत्र स्थान अ०१७ में मैंने आत्मा तथा उसके निवास स्थान का वर्णन नहीं किया, अपितु उक्त सूत्र स्थान अ०१७ में 'प्राणाः प्राणभृतां यत्र.........उत्तमांगमगांनां शिरस्तदभिधीयते' मन्त्र वेदों की पुष्टि करता है सूत्र स्थान में ये बातें लिखी है—"प्राणियों के प्राण (जीवन) शिर में रहते हैं, सारी इन्द्रियाँ (नासिका, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, रसना और त्वचा) भी सिर में ही रहती है और इसी कारण से शिर को शरीर के सब अंगों में सबसे उत्तम (ऊँचा और पवित्र है।") अथर्ववेद के दशम काण्ड में २.२६-२७ और १०।८।९ के मन्त्रों से चरक शास्त्र की पुष्टि होती है' महर्षि दयानन्द ने—'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय : में लिखा है—

१—आयुर्वेद = वैद्यक शास्त्र, २—धनुर्वेद = शस्त्रास्त्र सम्बन्धी राज विद्या, ३—गान्धर्व वेद = गान विद्या तथा ४ = अथर्ववेद = शिल्प ये वेदों के चार **उपवेद** भी वेदानुकूल होने से ही प्रामाणिक है। चरक, सुश्रुत तथा धन्वन्तरि कृत निघन्टु आयुर्वेद के अन्तर्गत हो जाते हैं।"

महर्षि दयानन्द ने चरकसंहिता को उपवेद माना है और इसीलिये चरक संहिता को प्रामाणिक माना है। और मैंने संहिता के सूत्र स्थान अ० १७ को प्रमाण मानकर लिखा है, परन्तु राजवीर शास्त्री ने और स्वामी आत्मानन्द ने ऋषि दयानन्द का विरोध करने के लिये चरक संहिता की अवहेलना की है।

साधारण लोग भी जानते हैं कि शिर में ही मनुष्य का प्राण अर्थात् जीवन रहता है। नदी नालों को पार करने के लिए प्रत्येक मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी तक भी अपने जीवन (मुख, नासिका, आँख और कान) को बचाने के लिए अपने सिर को ऊपर रखते हैं। छोटे-छोटे बच्चे भी पानी में घुसने से डरते हैं। वह डर प्राणों के चले जाने का ही है। इसलिये शिर को ही सर्वोत्तम कहा गया है। मैं अनुभव करता हूँ कि राजवीर जी 'सर्वोत्तम शब्द के अर्थ को भी नहीं जानते हैं। सुनिये ! सर्व + उत् + तम = सर्वोत्तम शब्द का अर्थ सबसे अच्छा ही नहीं अपितु सबसे उत ऊँचा भी है इसलिये देखने भालने और पानी में सब अंगों को बचाने में शिर ही सहायक होता है। राजवीर ने मेरी मजाक करने के लिये लिखा "इन उपर्युक्त वैदिक प्रमाणों को लिख कर भी जब लेखक को सन्तोष नहीं हुआ तब लेखक महोदय ने चरकादि आयुर्वेद के प्रमाण भी दिये किन्तु आयुर्वेद तो भौतिक शारीरिक रोगों का निवारण तथा उनके उपाय ही समझाते हैं।" परन्तु राजवीर जी को यह भी स्मरण करना चाहिए कि उसने कई बार एक वस्तु को घृणित समझ कर फेंक दिया परन्तु अब उस घृणित वस्तु का स्वाद ले रहे हैं देखिये—

(यह लेख दयानन्द के नाम से है केवल एक)—'क्या महर्षि दयानन्द के लेख के अनुसार रक्त संवाहक केन्द्र को हृदय माना है?' महर्षि ने लिखा है—"दोनों स्तनों के बीच में और उदर से ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर........उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म०। क्या इस गर्त को रक्त संवाहक केन्द्र कहा जा सकता है"? (दयानन्द सन्देश सितम्बर १९७३ पृ० १३) परन्तु द०स० अक्तू० १९८४

पृ० २४ में लिखा है—'उपनिषदों में हृदय शब्द शरीर के एक प्रदेश अर्थ में भी आता है। और वह प्रदेश ही आत्मा का निवास स्थान माना जाता है। हमारे शरीर में वे प्रदेश दो हैं। उनमें से एक हमारी छाती के बायें भाग के स्तन के नीचे है और दूसरा सिर में ब्रह्मरन्ध्र में (आत्मा का स्थान पुस्तक १४पृ०) (स्वा० आत्मानन्द)—

इन दोनों लेखों का अन्तर—पहले में हृदय का स्थान 'दोनों स्तनों के बीच में और उदर से ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर कहते हैं, उसके बीच में गर्त है, गर्त रक्त संवाहक केन्द्र से भिन्न है'' दूसरा लेख स्वामी आत्मानन्द के नाम से—(दो हृदय) १ छाती के बाएं भाग के नीचे (यह लेख स्वामी दयानन्द के कथन से सर्वथा विरुद्ध है) दूसरा हृदय स्वा० आत्मानन्द के अनुसार—'दूसरा शिर में ब्रह्मरन्ध्र में (तदेव पुस्तक १४ पृ०) राजवीर ने इसी विषय में 'स्वा० आत्मानन्द के नाम से दिसम्बर १९८३ में दूसरे हृदय का स्थान तालु के ऊपर शिर में।'' दोनों अवस्थाओं में स्वामी आत्मानन्द का लेख राजवीर के कथित सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। राजवीर जी के सब लेख झूठ से ही भरे हैं पहले सिद्धान्त यह रक्खा गया था कि जीवात्मा का स्थान छाती से दोनों स्तनों के बीच में एक गर्त्त के अन्दर हृदय में ही है, दूसरा कोई स्थान नहीं, परन्तु इसके पश्चात् एक नया गुरु स्वा० आत्मानन्द के नाम से बना लिया और उसके कहने पर दो हृदयों को मान लिया और दोनों स्तनों के बीच में रहने वाले हृदय स्थान को समाप्त कर दिया पहले सितम्बर १९८३ के पत्र में मान्यता बतलाई थी कि वेद, उपनिषद्, सुश्रुत तथा चरक का एक भी प्रमाण लेखक ने ऐसा नहीं दिखलाया फिर समस्या कैसे सुलझ सकती है? उसी राजवीर ने अथर्ववेद के छः मन्त्रों

को जिनका भाष्य चारों वेदों के भाष्यकार जयदेव ने किया था, बिना किसी प्रमाण के ठुकरा दिया। यह अदला बदली राजवीर ने नये गुरु के आदेश से (अक्टूबर १९८४) पत्र में की।

१९८३ के पत्र में चरक संहिता के प्रमाण की आवश्यकता थी। परन्तु १९८४ के पत्र में चरक संहिता का प्रमाण निरर्थक माना गया। राजवीर का न कोई धर्म है और न कुछ ज्ञान। 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' पहले स्वार्थ के कारण ऋषि दयानन्द का नाम लेता रहा, परन्तु वर्तमान में स्वामी आत्मानन्द को ही अपना संरक्षक बना लिया। पहले ३।१ योगदर्शन में ऋषि दयानन्द का मन्तव्य बतलाया था—ऋषि ने लिखा था—"मन को चंचलता से छुड़ाने के लिये नाभि, हृदय, नासिका, मूर्धज्योतिषि, जिह्वाग्र, इन्द्रियों को कर, मन को नाभि प्रदेश वा हृदय में, वा कण्ठ, नेत्र, शिखा, अथवा पीठ के मध्य हाड में किसी स्थान पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न हो जाने से संयमी होंवे।" इससे यह सिद्ध होता है कि 'मन एक चंचल तत्त्व है, 'उसका बांयें स्तन के नीचे रहने वाले हृदय में ही रहने की बात कहना ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के विरुद्ध है। इसीलिये मेरा निश्चय हो गया है कि राजवीर ऋषि दयानन्द का प्रच्छन्न विरोधी है। 'आर्य्यों को समझ लेना चाहिए कि ऋषि दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना के समय 'दस नियम बनाये थे' उनमें से एक है—

'सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वथा उद्यत रहना चाहिये'

दूसरा है—

"सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिये"

ऋषि ने १० नियमों की स्थिरता के लिये सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में अपने मन्तव्य अमन्तव्य के प्रकाश की घोषणा की थी। उनमें से ३६ वें मन्तव्य में लिखा है—"शिष्टाचार जो धर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना है वह शिष्टाचार और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है।

'मन्तव्य ३९—परीक्षा पांच प्रकार की है इसमें से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण, कर्म, स्वभाव और वेद विद्या दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टि क्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पाँचवी अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या इन पाँच परीक्षाओं में सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य को ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये।"

ऋषि दयानन्द ने धर्म की पहचान भी बतलाई है—'आर्य्योद्देश्यरत्न माला' की दूसरी माला—२—"धर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर आज्ञा यथावत् पालन और पक्षपात रहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने सब सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है, उसको धर्म कहते हैं।

जो मनुष्य ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों को स्वीकार नहीं करता वह आर्य समाजी या आर्य कहलाने का अधिकारी नहीं। राजवीर ने खुल्लम-खुल्ला ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों का विरोध किया है। राजवीर के 'दयानन्द सन्देश' दिसम्बर १९८३ के पृष्ठ १३, १४, २१ के एक-एक पंक्ति को पढ़कर देख लेना चाहिये। मेरी पुस्तक के खण्डन में लिखे गये किसी भी लेख में प्रत्यक्षादि

प्रमाणों का नाम तक नहीं है। अब स्वामी आत्मानन्द को गुरु बनाया है और उनके लेखों को प्रमाण माना है। आत्मानन्द जी ने "आत्मा का स्थान" पुस्तक के पृष्ठ ११, १२, १४, १६, १९, २०, २१" लिखे हैं—

उन पर विचार—ऋषि दयानन्द की मान्यता में केवल वेद मन्त्र ही ऐसा शास्त्र है जो स्वत: प्रमाण कहा जा सकता है शेष ग्रन्थ परत: प्रमाण माने जाते हैं। आत्मानन्द जी ने जो पुस्तक लिखी है वह केवल 'शब्द प्रमाण कही जा सकती। ऋषि दयानन्द ने आठ प्रमाणों को माना है परन्तु संक्षेप करके चार प्रमाण कहे जा सकते हैं, उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाण आते हैं। मनुष्य के शरीर की रचना का प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से ही हो सकता है शब्द प्रमाण से कदापि नहीं।

प्रत्यक्ष प्रमाण क्या पदार्थ है? इसको स्वामी आत्मानन्द और राजवीर न तो जानते हैं और न जान सकेंगे। इसी अज्ञानता के कारण इन सज्जनों ने आयुर्वेद विज्ञान के ऋषि चरक के सूत्र स्थान के अध्याय १७ को भी बेकार बताया, परन्तु स्वयं 'आत्मा का स्थान' नाम की पुस्तक लिख मारी। मैं पूरी जानकारी के साथ कहता हूँ कि स्वामी आत्मानन्द जी इस विषय में एक अक्षर भी नहीं जानते थे, मैं गर्व की बात नहीं कहता मैं एक किसान का पुत्र हूँ। १३-१४ वर्ष की आयु से अवकाश के दिनों में अपने घर में गाय भैंस आदि को लेकर चराने के लिये अपने गाँव की नदी कृष्णा के किनारे पर जाया करता था और अपनी भैंसों को नदी में लेकर उनको खूब स्नान कराता था और स्वयं भी नदी में खेलना तैरना सीखता था। मेरे गांव के धीवरों की

पलेजें नदी के दूसरी ओर थी। बरसात के महीने में नदी में बाढ़ आ जाती थी तो धीवर लोग अपनी भैंसों को पानी में हाँक देते और स्वयं भैंसों के दूध के बर्तनों को सिर पर रखकर बाँस भर गहरे पानी में इस प्रकार से तैरते थे कि उनके गले से ऊपर का सब भाग सर्वथा सीधा रहता था और पैरों को नीचे ही नीचे हरकत देते थे। वे कहा करते थे कि हमारा यह सिर हमारे प्राण और दूध को बचा लेता है। और हमारा नीचे का भाग भी बच जाता है नहीं तो सब विनाश ही विनाश है। यह है प्रत्यक्ष प्रमाण जिससे हम यह कह सकते है कि जीवात्मा के रहने का स्थान शिर में प्राण के बीच में, उस स्थान को हृदय भी कहा जाता है।

महर्षि दयानन्द ने भी यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २ में भाष्य करते हुए लिखा है—मेरा (प्राण) हृदय जीवन मूल। यही बात पिप्पलाद ऋषि ने प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न में कही और इसी सिद्धान्त का समर्थन तृतीय विभूति पाद सूत्र ३९ में व्यास ऋषि ने लिखा है। अब जबकि राजवीर अपनी इस मान्यता को सिद्ध न कर सके कि "कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है।"

तो राजवीर ने स्वामी आत्मानन्द का सहारा लिया और स्वामी दयानन्द के बताये हुए फरजी कथनों को "दोनों स्तनों के बीच में रहने वाले हृदय देश को रद्द कर दिया और आत्मानन्द जी के बताए हुए दो हृदयों को स्वीकार कर लिया—"एक स्तन के

नीचे छाती के बाएँ भाग में और दूसरा तालु के ऊपर शिर में'' पहले आर्य सज्जन भी यही बतला रहे थे, परन्तु उस समय राजवीर जी अकड़े हुए थे, परन्तु अब सीधे होने की बात करने लगे पहले सीधे हाथ से नाक को पकड़ने की बात थी, परन्तु अब घुमाकर नाक को पकड़ना चाहा। अब आत्मानन्द जी ने भी अपने पाण्डित्य की छटा दिखानी चाही, और ऋषि दयानन्द के गौरव को घटाने का प्रयत्न किया। ऋषि दयानन्द का यह मन्तव्य था कि ''यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमम् अर्थात् यह दैव मन जागते हुए का भी और सोते हुए का भी दूर दूर जाता है।''

यह मन एक स्थान पर ठहरने वाला नहीं। ऋषि ने योग दर्शन ३।१ पर और सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास में—नाभि, हृदय, मूर्धज्योति नासिकाग्र, जिह्वाग्र, शिखा और पीठ के मध्य हाड़ आदि पर मन आता जाता है। परन्तु आत्मानन्द जी ने अपने मन के प्रवेश के लिये यहां इसी शरीर के भाग को हृदय नाम से कहा।

[राजवीर की मान्यतायें]—अतः यह सिद्ध है कि मन का निवास इस हृदय में है। सभी इन्द्रियों के अधिष्ठाता यक्ष मन का निवास इस हृदय में है।'' यदि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यह प्रश्न करता है कि सभी इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन है, यह सत्य है परन्तु प्रश्न यह होता है कि मन इन्द्रियों के पास जाकर अधिष्ठातृत्व करता है या इन्द्रियाँ मन के पास हृदय में जाती है? इन्द्रियाँ दस हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शिरो भाग में रहती हैं उनके ठहरने का स्थान निश्चित है और पाँच कर्मेन्द्रियाँ शरीर के नीचे के भाग में हैं उनके साथ सम्बन्ध कैसे होगा? ऋषि दयानन्द का

मन्तव्य ही ठीक है। राजवीर जी का न तो कोई धर्म है और न कोई सिद्धान्त। गंगा गये गंगादास, जमुना गए जमुना दास। इनका जहाँ से स्वार्थ पूरा होगा, वहां हाँ में हाँ मिला देंगे।

[आत्मानन्द]—(घ) ऐतरेय २०/४ का प्रमाण देकर आगे लिखा है चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। यहां इस प्रसंग में शरीर रचना की प्रक्रिया चल रही है। शरीर में इन्द्रियों का प्रवेश तथा उनके उपादान कारणों का उल्लेख किया जा रहा है।'' यह कोई वास्तविक घटना नहीं है।

सिद्धान्त—यह एक आलंकारिक कथन है। बुद्धिमान् लोग इस अलंकारों से विज्ञान की बहुत सी बातें जान लेते हैं, जैसे महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र ११-१२ में

''ब्राह्मणोऽस्य मुखमासी .... पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।''११

स्वार्थी ब्राह्मणों ने ब्राह्मणों को परमात्मा के मुख से पैदा होना अर्थ लगाया और शूद्रों को परमात्मा के पैरों से उत्पन्न होना बताया, परन्तु ऋषि दयानन्द ने अर्थ किया कि ''इस ईश्वर की सृष्टि में ब्राह्मण वेद ईश्वर का ज्ञाता.......और शूद्र (पद्भ्यां) सेवा और अभिमान रहित होने से (शूद्रः) मूर्खपन आदि गुणों से युक्त शूद्र कहा।''

ऐसे ही—''चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत' (१२)

मूर्ख लोगों ने परमात्मा के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति बताई (जैसे आत्मानन्द ने और उसके भक्त राजवीर ने चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया) परन्तु महर्षि दयानन्द लिखते हैं- मनुष्यो इस पूर्ण ब्रह्म के (मनस;) ज्ञान स्वरूप सामर्थ्य से (चन्द्रमाः) चन्द्रलोक (जातः) उत्पन्न हुआ, (चक्षोः) ज्योति सामर्थ्य से (सूर्य्यः) सूर्य मण्डल (अजायत) उत्पन्न हुआ।''

(आत्मानन्द) (च)—'जीवात्मा का शरीर में निवास'—आत्मा मन के ऊपर अधिकार करने के बाद ही विज्ञान और आनन्द प्राप्ति के लिये इस हृदय में (शिरस्थ में) पहुँचता है। इससे पहले वह दूसरे हृदय में ही रहता है।'' तदेव १३ पृ० (राजवीर का मन्तव्य—अक्टूबर १९८४ पृ० २४)

(आत्मानन्द) (ज)—दर्शन विद्या के पारंगत एवं आध्यात्मिक ज्ञान के पारदृश्वा योग साधक स्वामी आत्मानन्द जी के सप्रमाण वचनों से स्पष्ट है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में की गई हृदय की व्याख्या निर्भ्रान्त है। उसे जो असत्य सिद्ध करने का साहस कर रहे हैं कि भ्रान्ति ग्रस्त है और आयुर्वेद के प्रमाण जीवात्मा के निवास का निर्णय नहीं कर सकते। आयुर्वेद में तो भौतिक शरीर की चिकित्सा का ही वर्णन किया है।''

(मेरा समाधान)—राजवीर जी ने स्वामी आत्मानन्द जी की आध्यात्मिकता का वर्णन ५७ पंक्तियों में किया है। परन्तु उनकी योग्यता की कसौटी भी देखनी चाहिये—

(१) चन्द्रमा मन बनकर आत्मा में प्रविष्ट हो गया (स्वामी आत्मानन्द) स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त के विरुद्ध (यजुर्वेद ३१ अध्याय ११-१२ मन्त्र)

(२) मन का स्थान छाती से नीचे वाले हृदय में है। (स्वामी आत्मानन्द) यह ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि ऋषि दयानन्द मन को चलायमान मानते हैं। अनेक स्थानों पर आना-जाना (सत्यार्थ. समु. ७)

(३) सब इन्द्रियाँ छाती वाले मन के पास ही जाती हैं। (स्वा. आत्मा.) यह कहना भी ठीक नहीं ऋषि दयानन्द और सभी विद्वान् इन्द्रियों के स्थानों को स्थिर मानते हैं जो गोलक नाम से कहे जाते हैं।

(४) जब तक मन वश में नहीं होता उस समय तक आत्मा भी छाती वाले हृदय में रहता है (स्वा. आत्मा.) यह भी अशुद्ध है। सभी विद्वान् और साधारण लोग भी जानते हैं कि आत्मा का स्थान जीवनभर कण्ठ से ऊपर ही रहता है। प्रत्यक्ष प्रमाण भी इसी बात को बतलाता है, जलादि में प्रवेश करने से मनुष्य और पशु आदि भी कण्ठ से ऊपर के भाग को पानी में डूबने से बचाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही शरीर और शरीर के सब अंगों का जीवन आधार है। इसीलिये जीवात्मा का शरीर में निवास स्थान मस्तिष्क से है। मस्तिष्क सिर का वह भाग है जिसको माथा भी कहते हैं, वह स्थान दोनों भ्रुओं के साथ मिला हुआ है, वह ऊपर की चौड़ाई में लगभग चार अंगुल ऊपर की ओर सिर के बालों के साथ मिलता है। लम्बाई में एक कान से लेकर दूसरे कान तक होता है। भगवत् गीता में भी लिखा है—

"प्रयाण काले मनसा चलेन, भक्त्यायुक्तो योग बलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्' स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।
(अ. ८।१०)

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।
ओमित्येकाक्षरं व्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।"

(१) 'भक्ति युक्त मनुष्य, अन्त काल में भी योगबल से भृकुटी के मध्य में प्राणों को अच्छी प्रकार स्थापन करके निश्चल मन से स्मरण करता हुआ अब उस दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है।"

(२) हे अर्जुन! सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राणों को मूर्धा में स्थापित करके योग धारणा में स्थित हुआ।

(३) जो पुरुष ओ३म् इस एक अक्षर रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और अपने स्वरूप को जानता हुआ देह को त्यागता है वह परम गति को प्राप्त होता है।।''

भगवत् गीता से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा का स्थान भ्रुवों के मध्य में मस्तिष्क के एक भाग में है और वहाँ पर ही जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार होता है। जीवात्मा एक देशी है, और ईश्वर सर्व देशी है इसलिये जीवात्मा अपने निवास स्थान दोनों भ्रुवों के मध्य में मस्तिष्क भाग में ईश्वर का दर्शन करता है और उसी स्थान को हृदय कहा जाता है।

सहस्त्रों वर्षों से आर्य लोग माथे के इस स्थान को सर्वोत्तम मानते रहे हैं और पूजा आदि पवित्र अवसरों पर माथे के ऊपर हल्दी आदि का चिन्ह लगाते हैं। आर्य देवियाँ सदा ही अपने सौभाग्य की रक्षा के लिये सिन्दूर के टीके लगाती हैं। सिख लोग भी प्राचीन प्रथा के अनुसार अपने गुरुद्वारों में मत्था टेकते हैं। मुसलमान लोग भी इबादत के समय माथा टेकते हैं। इसका भाव यही है कि भक्त अपनी सर्वोत्तम वस्तु भगवान् के अर्पण करता है।

(५) श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज ने आत्मा के स्थान को स्पष्ट करते हुये आगे लिखा है—

"शतं चैका हृदयस्य नाड्यः (छान्दोग्य. ८।६।३)...... आचार्य यम और महर्षि याज्ञवल्क्य के इन वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि एक ऐसी नाडी है, जिसका छाती वाले हृदय और मूर्धा के हृदय दोनों से सम्बन्ध है। एक ऐसा अवसर आता है कि आत्मा का उस नाडी के द्वारा मूर्धा के हृदय में उत्क्रमण होता है। .... इस प्रकार आत्मा का मन के ऊपर अधिकार होने से पहले उसका नीचे के हृदय में निवास रहता है।"

(लेखक राजवीर—द. स० अक्तू. १९८४)

मेरा समाधान—श्री राजवीर ने इस लेख में इतने झूठ लिखे हैं—

(१) 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' के स्थान में 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' छान्दोग्य. [८।६।६]

(२) 'शतं चैका हृदयस्य' का लेखक महर्षि याज्ञवल्क्य को लिखा है जो सर्वथा झूठ है सारे छान्दग्योपनिषद् में एक भी प्रपाठक खण्ड और मन्त्र में 'महर्षि याज्ञवल्क्य' का नाम और निशान नहीं। कठोपनिषद् का मन्त्र बडा सरल है जिसको साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है, मन्त्र इस प्रकार है—"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यःस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नममृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।" २.३.१६

अर्थ यह है—'एक सौ एक हृदय की नाडियाँ हैं उनमें से एक ऊपर को—सिर को गई है। उसके ऊपर जाने वाली नाडी से ऊपर जाता हुआ आत्मा अमृत पद (मुक्ति पद) को जाता है' शेष १०० नाड़ियाँ मरने के समय आत्मा को भिन्न-भिन्न स्थानों

में ले जाती है। (योगी और अयोगी पुरुषों में यह अन्तर है) यह प्रसंग 'जीवात्मा का शरीर में स्थान' के विषय में नहीं है। यह प्रसंग तो मरने के समय मनुष्य की अवस्था का है। झूठ बोलना राजवीर का स्वभाव ही है इसलिये बिना प्रसंग के यह शीर्षक दे दिया। इसके आगे आत्मानन्द जी के नाम से यह झूठ घड़ा—एक ऐसी नाडी है जिसका छाती वाले हृदय और मूर्धा के हृदय दोनों से सम्बन्ध है। एक ऐसा अवसर आता है कि आत्मा का उस नाडी के द्वारा मूर्धा के हृदय में उत्क्रमण होता है .... इस प्रकार आत्मा का मन के ऊपर अधिकार होने से पूर्व उसका नीचे हृदय में ही निवास रहता है।

यह सारा वर्णन अनर्गल झूठ से भरा है। कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में जिन मन्त्रों का उल्लेख किया है उनमें अर्थ का अनर्थ किया है। किसी भी उपनिषद् में इस प्रकार का ऊल जलूल वर्णन नहीं है इन दोनों व्यक्तियों के कथनों में आठ प्रमाणों में से एक प्रमाण भी नहीं मिलता केवल उनके अनर्गल वर्णन ही हैं।

(६) 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट;' (कठो. २।३।१७) की व्याख्या में स्वामी जी लिखते हैं—

'अंगुष्ठ परिमाण वाला अन्तरात्मा प्राणियों के हृदय के सदा समीप रहता है। .... इस प्रसंग में भी आत्मा को नीचे हृदय में ही बतलाया गया है।' (राजवीर)*

इस लेख में भी राजवीर धोखा और झूठ का प्रयोग कर रहा है। इसमें कई बाते सम्मिलित हैं—

* यहां लेखक की विस्तृत टिप्पणी है, जिसे अन्त में छापा जा रहा है।

(१) जीवात्मा को 'अंगुष्ठ परिमाण वाला' कहा गया है, वह महर्षि दयानन्द के प्रति विश्वासघात करना है। ऋषि दयानन्द जीवात्मा को अंगुष्ठ परिमाण वाला नहीं मानते थे। ऋषि ने सत्यार्थ प्रकाश के १२ समुल्लास में लिखा था—"जो जैनियों में आर्हत लोग देह के परिमाण से जीव का भी परिमाण मानते हैं उनसे पूछना चाहिये जो कि ऐसा हो तो हाथी का जीव कीडी में और कीडी का जीव हाथी में कैसे समा सकेगा? यह भी एक मूर्खता की बात है। क्योंकि जीव एक सूक्ष्म पदार्थ हैं जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है। परन्तु उसकी शक्तियाँ शरीर में प्राण, बिजली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं। उनसे सब शरीर का वर्तमान जानता है।"

इसी प्रकार की गलती राजवीर और उनके गुरुघंटाल कर रहे हैं जो अन्तरात्मा पुरुष को अंगुष्ठ परिमाण वाला मानते हैं। सच कहा किसी ने

'लोभी गरु लालची चेला, दोनों खेले दाँव।
बीच समुद्र में डूबते बैठ पत्थर की नांव।।

(२) राजवीर जी ने लिखा है—'दर्शन विद्या के पारंगत .... स्वामी आत्मानन्द जी'

दर्शन ६ कहे जाते हैं उनमें से एक है 'वेदान्त दर्शन' उसके रचयिता थे महर्षि व्यास जी' आत्मानन्द जी उसे पढ़ते। कठोपनिषद्. २।३।१७ के अंगुष्ठमात्र मन्त्र की व्याख्या में अंगुष्ठ परिमाण वाला कहने मात्र से व्याख्या का धोखा है। अंगुष्ठ परिमाण क्या है? अन्तरात्मा कौन है? परम पुरुष है या परिच्छिन्न आत्मा? आत्मानन्द जी के शिष्य आनन्द स्वामी ने सन् १९६४ में पठानकोट में अपने व्याख्यान में अपने अंगूठे को

दिखाकर जनता को बतलाया था कि हमारा आत्मा इतना है। उनके व्याख्यान रात्री में हुआ करते थे। प्रात: काल मेरे प्रवचन होते थे। मैंने अगले दिन अपने प्रवचन में उनका खण्डन करते हुये कहा कि यदि जीवात्मा का परिमाण अंगूठे के बराबर है तो एक चींटी के शरीर में आत्मा कैसे समायेगा। आनन्द स्वामी नीचे सिरे किये हुये बैठे रहे उन्होनें अपने ग्रन्थों में भी ऐसे ही लिखा है। यह सिद्धान्त आत्मानन्द जी की देन है जिसको स्वामी दयानन्द जी के अनुयायी कभी स्वीकार नहीं कर सकते। इन लेखों से स्पष्ट रीति से पता चल गया है कि राजवीर जी खुले तौर पर ऋषि दयानन्द जी के अत्यन्त प्रामाणिक ऋषि 'चरक' को अपमानित करने के लिये राजवीर लिखता है—'आयुर्वेद के प्रमाण जीवात्मा के निवास का निर्णय नहीं करते। आयुर्वेद में तो भौतिक शरीर की चिकित्सा का ही वर्णन किया है।' ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के 'ग्रन्थ प्रामाण्या प्रामाण्य विषय' में लिखा है—

(१) अयुर्वेद वैद्यक शास्त्र, (२) धनुर्वेद ...., (३) गान्धर्व वेद ...., (४) अर्थवेद ...., ये वेदों के चार उपवेद भी वेदानुकूल होने से प्रामाणिक हैं। चरक, सुश्रुत तथा धन्वन्तरि कृत निघण्टु आयुर्वेद के अन्तर्गत हो जाते हैं।'' इन शास्त्रों को आयुर्वेद' इसीलिये कहा जाता है कि आयु के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से जानकारी होना। भौतिक शरीर की चिकित्सा करने की बात किसी पागल की कथनी है। कुछ साम्प्रदायिक लोगों का रिवाज भी ऐसा ही है कि वे जड शरीर को बड़े २ मकानों में सुरक्षित रखते हैं और बड़े कीमती वस्त्रों को उन पर चढाते हैं। इसी प्रकार के लोग अपने आप को आर्य समाजी कहने वाले भौतिक शरीर की चिकित्सा करना ही 'चरक ऋषि

जैसे आयुर्वेदाचार्य' का काम है। आत्मानन्द जी की आस्था ऋषि दयानन्द में नहीं थी, उनकी आस्था स्वामी दर्शनानन्द जी में थी। स्वामी आत्मानन्द जी के सम्बन्ध में जानकार जीवित व्यक्तियों में से कदाचित् एक आध ही होगा जो आत्मानन्द जी को मेरे से अधिक जानता हो। उनके साथ मेरा सम्पर्क सन् १९२५ में लाहौर के 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय में हुआ था। मेरे गुरु स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज थे और अध्यापक स्वामी योगानन्द जी थे। स्वामी आत्मानन्द जी उस समय पं. मुक्तिराम कहे जाते थे। स्वामी योगानन्द जी ने मेरा परिचय कराया और कहा कि यह विद्यार्थी मेरठ जिले के ग्राम बूढपुर के रहने वाले हैं। मुक्तिराम जी ने बड़े उत्साह के साथ कहा कि मैं आपके गाँव बूढपुर में पण्डित रामानन्द मिश्र के पास व्याकरण पढ़ता था और पं. बलदेव सहाय के पुत्र चण्डी सहाय भी मेरे साथ पढ़ते थे। मेरा जन्म स्थान बूढपुर से थोड़ी दूर पर अन्छाड गाँव है। मैंने पता चला लिया कि उनका पहला नाम मुखत्यारा था, वे फिर स्वामी दर्शनानन्द जी के शिष्य बन गये और उनका नाम मुक्तिराम रख दिया गया। स्वामी दर्शनानन्द जी की प्रेरणा से मुक्तिराम जी काशी में संस्कृत पढ़ते रहे। उन्हीं दिनों में स्वामी दर्शनानन्द ने कई विद्यालयों की स्थापना की। उन विद्यालयों में पढ़ने और पढ़ाने वाले प्राय: ब्राह्मण ही होते थे उधर महात्मा मुन्शीराम ने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के सहयोग से गुरुकुल काँगडी की स्थापना की। गुरुकुल कांगडी एक व्यवस्थित संस्था थी, जिसमें सारे कार्य नियम के साथ होते थे। स्वामी दर्शनानन्द जी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। आर्य समाज के सिद्धान्तों में भी वे स्वतन्त्र रहते थे। उन्होनें इसी प्रकार का पोठोहार नाम का विद्यालय रावलपिण्डी के क्षेत्र में स्थापित किया और पं. मुक्तिराम को वहाँ का अधिष्ठाता बना दिया। पं. मुक्तिराम जी ने

कुछ समय तक उस विद्यालय में पठन पाठन किया। कुछ दिनों के पश्चात् वहाँ की व्यवस्था ठीक न रह सकी। विद्यालय बन्द हो गया। पं. मुक्तिराम जी वहाँ से रावलपिण्डी चले गये और एक स्थान में कुछ व्यक्तियों को पढ़ाते रहे। उनके सम्बन्ध में पं. इन्द्रराज जी ने जो १९५७ में आर्य समाज मेरठ में मेरे पुरोहितत्व में मेरा भक्त बन गया था। वह बड़ा अच्छा और बुद्धिमान् था, मुझे बतलाया कि उन दिनों में जब मैं रहता था तो मेरी माँ ने कहा कि मुझे सन्तान नहीं हुई थी तो पं. मुक्तिराम ने औषधि आदि दी थी तो उसके परिणामस्वरूप पहला पुत्र इन्द्रराज उत्पन्न हुआ और उसके पश्चात् उसके भाई बलदेव आदि उत्पन्न हुये। इन्द्रराज जी ने बतलाया कि पंजाब में हिन्दी सत्याग्रह में उनकी माता स्वामी आत्मानन्द जी की सेवा में अम्बाला में भोजन आदि का प्रबन्ध करती रही। सन् १९६४ में स्वामी आत्मानन्द जी रूग्ण हो गये और वे मेरठ में पं. इन्द्रराज जी के घर पर ही रहे और और उनकी माता ही उनकी दिनरात सेवा करती थी, मैं भी कभी कभी उनको देखने के लिये चला जाता था। इस प्रकार लगभग ३९ वर्ष तक मैं उनसे मिलता रहा। परन्तु मैं देखता रहा कि उनका सम्पर्क आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साथ नहीं रहा। उनका सम्पर्क अधिकतर प्रादेशिक (कालिज) पार्टी से ही रहा। स्वामी दर्शनानन्द जी महात्मा मुन्शीराम से और उनके सिद्धान्तों से पृथक् रहते थे।

स्वामी आत्मानन्द की सबसे बड़ी निर्बलता यह है कि वह स्वामी दर्शनानन्द के सिद्धान्तों को ही सर्वोपरि मानते थे। स्वामी दर्शनानन्द जी महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को उलांघ जाते थे। महर्षि दयानन्द वृक्षों को जीवधारी मानते थे, परन्तु दर्शनानन्द जी वृक्षों को जीवधारी नहीं मानते थे। महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ

प्रकाश के नवम समुल्लास में मनु-स्मृति के प्रमाण देकर और १२ वें समुल्लास में भी सिद्ध किया है कि वृक्षों में जीवात्मा का स्थान है, परन्तु दर्शनानन्द जी ने मनुस्मृति के लेख को भी झूठा बतलाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुत से पढ़े लिखे लोग भी दर्शनानन्द को ही अपना गुरु मानते हैं। आर्य समाज के कई उपदेशक—ओम्प्रकाश शास्त्री, पं. रामदयालु शास्त्री और गंगा प्रसाद जी उपाध्याय तथा नारायण दास जी वैद्यादि व्यक्ति स्वामी दर्शनानन्द जी के सिद्धान्तों को ही अधिक महत्त्व देते थे। इन लोगों ने स्वामी दयानन्द के 'वृक्ष जीवाधारी है' के विरुद्ध अपनी पुस्तिका में वृक्ष 'जड़' हैं का प्रचार किया। मैंने ऋषि दयानन्द के सर्वोत्तम ग्रन्थों सत्यार्थ प्रकाश और उनके पत्रों को अच्छी प्रकार से पढ़कर और उपनिषदों, वेदों और आयुर्वेदादि आर्ष ग्रन्थों को पढ़कर यही निश्चय किया कि दूसरे प्राणियों की भाँति वृक्ष भी जीवधारी हैं। इसके परिणाम स्वरूप मैंने संन्यासाश्रम से पूर्व ही सम्वत् २०२८ विक्रमी में इन चारों विद्वानों के लेखों का अकाट्य प्रमाणों के आधार पर प्रबल खण्डन किया। पुस्तक का नाम 'वृक्ष जीवधारी हैं, लिखा है उस समय मेरा नाम "पं. पूर्णचन्द आर्य सिद्धान्त भूषण, भूतपूर्व माहेपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर था मैंने उन विद्वानों के पास अपनी पुस्तक भेजी और उनका उत्तर माँगा परन्तु उन विद्वानों या उनके समर्थकों का आजतक (दिसम्बर १८ सन् १९८४) उत्तर नहीं आया। इस सम्बन्ध में मैं एक विचार करता रहा कि ऋषि दयानन्द के जीवन काल में पंजाब प्रदेश के तीन व्यक्तियों का ऋषि दयानन्द के साथ सम्पर्क रहा था उनमें सबसे पहले पं. लेखराम आर्य मुसाफिर थे, दूसरे

महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द जी) तीसरे पं. कृपाराम शर्मा (स्वामी दर्शनानन्द)। इनमें पं. लेखराम और लाला मुंशीराम पहली बार ही ऋषि दयानन्द के दर्शनों और व्याख्यानों से इतने प्रभावित हो गए थे कि उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य ऋषि दयानन्द के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अर्पण कर दिया था और परिणामस्वरूप अपने जीवन को न्यौछावर करके शहीद हो गये थे। परन्तु पं. कृपाराम जी वाराणसी में ऋषि दयानन्द की योग्यता को परखने के लिये अपने तर्क वितर्कों की छटा दिखाने लगे। पं. लेखराम जी ने सन् १८९५ में अपना बलिदान किया और पं. कृपाराम जी ने सन् १८९९ में ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त (वृक्ष जीवधारी) के विरुद्ध 'वृक्ष जड़ है' का लिखना प्रारम्भ किया और अपनी मृत्यु से दो वर्ष पहले ही आठ अप्रैल १९१२ को कनखल की भूमि में (महाविद्यालय की भूमि में) पण्डित गणपति शर्मा के साथ शास्त्रार्थ करते हुये ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों और पुस्तकों का खूब जी खोलकर खण्डन किया। इस शास्त्रार्थ में स्वामी दर्शनानन्द ने झूठ, छलकपट और प्रमाण हीनता का जो प्रदर्शन किया, उसको जानने के लिये 'वृक्षों में जीव विचार' नाम की पुस्तक तपोभूमि मथुरा से मंगा कर देखा जा सकता है। इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति आर्यों को यह ध्यान रखना चाहिये कि जो व्यक्ति वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों और ऋषियों के प्रमाणों को अपनी धींगामुश्ति से ठुकराता है वह प्रामाणिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता है। सन् १९१२ के शास्त्रार्थ में भी स्वामी दर्शनानन्द जी का यही व्यवहार था। स्वामी आत्मानन्द जी अपने गुरु स्वामी दर्शनानन्द जी के कट्टर अनुयायी थे इसीलिये ऋषि दयानन्द के प्रति आत्मानन्द

जी की सद्भावना नहीं थी। इसका यह प्रमाण है कि वे ऋषि दयानन्द के प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्वीकार नहीं करते थे, आत्मानन्द जी के राजवीर शास्त्री के दयानन्द सन्देश नाम के पत्र (अक्तूबर १९८४) में ११ लेख ऐसे हैं जिनमें प्रत्यक्षादि प्रमाणों में से एक भी प्रमाण नहीं है। उन्होनें दर्शनानन्द जी का अनुकरण किया है। उन्होनें ऋषि दयानन्द के प्रामाणिक ऋषि चरक के लेख को झूठा बतलाया है। इसलिये यह व्यक्तिअप्रामाणिक व्यक्ति है। इस व्यक्ति के परामर्श से राजवीर ने ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को ठुकराकर स्वामी आत्मानन्द जी को अपना गुरु बना लिया और उनके लेखों के आधार पर मेरी पुस्तक का खण्डन करना चाहा। परन्तु राजवीर का कोई सिद्धान्त नहीं।

इनका सिद्धान्त तो 'इनका निजी स्वार्थ है'। गंगा गये गंगादास, जमना गये जमना दास'। सबसे पहले राजवीर ने एक अप्रामाणिक लेख लिखा। जिसमें ऋषि दयानन्द के नाम से ऋग्वेदा.भा.भू. उपा. नाम से एक प्रक्षिप्त लेख को अपना आधार बनाया, परन्तु ऋ.भा.भू. के सहस्त्र शीर्षा (यजु. ३१मं.१) मन्त्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द ने उसका खण्डन कर दिया, तो शास्त्री ने महीधर और वाचस्पति मिश्र का सहारा लेकर उसी अप्रामाणिक लेख को वेदों, स्मृतियों, उपनिषदों और षडशास्त्रों से भी ऊपर मानने लगे। प्रमाणों की जब चर्चा होने लगी तो 'दयानन्द सन्देश' पत्र के दिसम्बर १९८३ में "मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान" लेख में प्रमाण के लिये छः ऋषियों का नाम लिख दिया। जब मैंने प्रमाणों का परीक्षण करने के लिये राजवीर के लेख को आरम्भ से अन्त तक अच्छी प्रकार से

टटोला तो सारे लेख में एक भी शब्द ऐसा न मिला जो 'मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान' के सम्बन्ध में लिखा हो? इसलिये मैंने इस लेख के विरुद्ध यह पुस्तक 'मानव शरीर और जीवात्मा' के नाम से लिखी और घोषणा कर दी राजवीर शास्त्री का यह लेख सर्वथा झूठ है। राजवीर शास्त्री मेरे इस खण्डन का कोई समाधान न कर सके। परन्तु आश्विन १९८४ के द. सं. के पत्र में एक लेख—'जीवात्मा का निवास स्थान कहाँ पर है?' 'मानव शरीर और जीवात्मा' पुस्तक की समीक्षा लिखा है। परन्तु राजवीर ने मेरे इस खण्डन का किंचित् उत्तर नहीं दिया जो मैंने राजवीर के दिसम्बर १९८३ में लिखे हुये 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' किया था' राजवीर जी की अवस्था 'आगे दौड़ पीछे चौड़' है जिनको पहले प्रमाण रूप में अपना सहायक बनाया था वे, छ: ऋषि तो सहायक नहीं रहे। इस लेख में पं. क्षेमकरण जी को प्रमाण के लिये खड़ा करना चाहा, वे तैयार न हुये, उन्होनें राजवीर जी को ही झूठा सिद्ध कर दिया। इस लेख में मेरे से पहले ही ऋषि दयानन्द को और उनके यजुर्वेद १८।२ भाष्य को ही झूठा सिद्ध करने लगे। अब अन्त में स्वामी आत्मानन्द जी के चरणों को ही ग्रहण किया गया है। परन्तु यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे बहुत दिनों तक स्वामी आत्मानन्द जी को गुरु बनाये रखे?

(८) राजवीर जी ने इसी लेख में मेरे पक्ष के उतर में लिखा है—"स्वपक्ष के पोषण में लेखक द्वारा दिये गये वैदिक प्रमाणों पर विचार करने पर स्पष्ट हो जाता हैं कि उनसे लेखक का अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होता है।" राजवीर के इस कथन से सत्यान्वेषी समझ जायेगा कि राजवीर के पास मेरे पक्ष को

निरस्त करने की योग्यता ही नहीं है और वह वेदार्थ को समझ सकता है। उसने इतना ही पर्याप्त समझ लिया वैदिक प्रमाणों पर विचार करने मात्र से ही मेरा पक्ष सिद्ध नहीं होता आगे आप लिखते हैं—"और महर्षि दयानन्द के लेख की पुष्टि में हमारे द्वारा प्रदत्त प्रमाणों पर लेखक ने जो कुछ लिखा है वह चिन्तनीय है। (क) 'प्रथम तो उन्होनें श्री आत्मानन्द जी महाराज की स्पष्ट मान्यता को भी स्वीकार न करके लिखा है 'स्वामी आत्मानन्द जी ने नाभि से दश अंगुल ऊपर का लेख कहीं नहीं किया।"

स्वामी आत्मानन्द जी के सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि स्वामी आत्मानन्द जी ने तथाकथित स्वामी दयानन्द के लेख की पुष्टि नहीं की थी। वह लेख क्या था? देखिये—

"कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के मध्य बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो 'गर्त' है उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्द स्वरूप उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है, दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है।" (ऋ. भू. उपा. विषय)

लेखक राजवीर शास्त्री. दयानन्द सन्देश दिसम्बर १९८३)

(क) ऋ. भू. उपा. विषय में स्वामी दयानन्द के नाम से जो लिखा गया है उसकी पुष्टि में आत्मानन्द स्वामी ने एक शब्द भी नहीं लिखा बल्कि ऋ. भू. उपा. विषय को समाप्त ही कर दिया है। राजवीर के प्रति प्रिय दोनों स्तनों के मध्य में रहने वाला हृदय, गर्त, ईश्वर का घर आदि आत्मानन्द स्वामी ने रसातल को पहुँचा दिये। अब राजवीर शास्त्री की अगली जिज्ञासा पूरी हो

जाती है? राजवीर जी का कथन है—'स्वामी आत्मानन्द जी ने नाभि से दश अंगुल ऊपर का लेख कहीं नहीं किया? (पृ. ५६) यहाँ मैंने ऊपर स्वामी जी के अनेक वचन उद्धृत किये हैं, क्या उनसे लेखक के काल्पनिक मिथ्या मत का खण्डन नहीं हो गया है?'' राजवीर शास्त्री ने स्वामी आत्मानन्द जी के अनेक वचन उद्धृत किये हैं वे वचन राजवीर ने अपने पत्र दयानन्द सन्देश आश्विन १९८४ में ६७ पंक्तियों में लिखे हैं। इन वचनों में १५ झूठ हैं। मैंने यह भी अनुभव कर लिया है कि स्वामी आत्मानन्द जी सत्यता पर अधिक विश्वास नहीं करते। इससे आत्मानन्द जी तथा राजवीर का काल्पनिक सिद्धान्त छिन्न-भिन्न हो गया है।''

(ख) राजवीर—'दूसरा आपने महर्षि पाणिनीय शिक्षा का अयुक्ति युक्त खण्डन किया है। शिक्षा के श्लोक से स्पष्ट है कि मन जठराग्नि को तथा जठराग्नि वायु को प्रेरित करती है। किन्तु लेखक पाठकों की आँखों में धूल झोंकने के लिये लिखते हैं कि पाँच प्राण समस्त कारणों की सामान्यावृत्ति है। यह जो विचारणीय बात है कि प्राणों को मन जठराग्नि के द्वारा प्रेरित करता है और प्राणों की प्रेरणा से पूर्व ही जठराग्नि को कैसे मन प्रेरित करता है? जब तक मन और आत्मा का निवास जठराग्नि के समीप स्तनों के मध्य गर्त को न माना जायेगा जब तक उस प्रमाण की संगति नहीं लग सकती।''

मेरा समाधान—''राजवीर शास्त्री का यह कथन 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे' वाली बात है। राजवीर ने 'मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान' कहकर पाणिनि ऋषि को भी प्रमाण रूप में रखा था, परन्तु वह झूठ ही था और झूठ ही निकला तो छाती के बीच दोनों स्तनों का व्यर्थ में प्रमाण रहित बात को बीच में डाल दिया। मैंने ऋषिवर पाणिनि का खण्डन नही किया सांख्य दर्शन

के दूसरे अध्याय में १३ करणों की मुख्य और सामान्य वृत्तियों का वर्णन है। इन १३ करणों में मन की विशेष वृत्ति बाह्य दश इन्द्रियों पर अधिकार और शरीर के अन्दर कार्य करना सांख्य २।३१ में सामान्यवृत्ति हैं। यहाँ भी प्राण मन की वृत्ति कहलाती है परन्तु शास्त्रकार अगले सूत्र ३२ में लिखते हैं—

'क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रिय वृत्तिः' ।२.३२।

इन्द्रियवृत्ति क्रमशः से भी होती है और अक्रमशः भी होती है।''

राजवीर जी की गति न तो वेदादि शास्त्रों में हैं और न षड्शास्त्रों में है। वह किसी की सुनी सुनाई बातें सुनकर उलट सुलटकर कह देता है और साधारण जनता में डींग मारता है। सां. २.३१ के प्रकरण के आगे पीछे के विषयों को न जानकर यह झूठा आरोप लगाया है जो सर्वथा झूठ है।

(राजवीर (ग)—''मूर्ध ज्योतिषि ....हृदये चित्त संवित्......... यो. (३।९) सूत्र के व्यास भाष्य में भी (हृदय पुण्डरीके मूर्ध्नि) लिखकर भिन्न-भिन्न माना है .... परन्तु लेखक की भ्रान्त धारणा देखिये—'जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क मानने वालों का यह मत नहीं है कि हृदय, मस्तिष्क और मूर्धा तीनों एक ही हैं। अपितु ये विद्वान् भी पतञ्जलि आदि के अनुसार इन पदार्थों को भिन्न मानते हैं''

समाधान—राजवीर का यह कथन 'चूं चूं का मुरब्बा है' या यह कहो कि यह पागल की बड़बड़ाहट है। राजवीर ने अपने पत्र दयानन्द-सन्देश दिसम्बर सन् १९८३ में एक लेख बड़े मोटे अक्षरों में 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के नाम से पत्र लिखा। इसके प्रमाण के रूप में पाँच ऋषियों का नाम लिखा। मैंने भी

उन लेखों की परीक्षा के लिये एक पुस्तक 'मानव शरीर और जीवात्मा' लिखी। किसी पुस्तक या लेख की परीक्षा प्रमाणों से ही हो सकती है। 'प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्याय:' यह कथन महर्षि गौतम का है। सभी ऋषियों ने अर्थ परीक्षण के लिये प्रमाणों को आवश्यक समझा है। सांख्य, योग, दोनों प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान नाम के प्रमाणों को मानते हैं। कणाद और गौतम 'प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द को मानते हैं। महर्षि दयानन्द आठ प्रमाणों को मानते हैं। मीमांसा और वेदान्त भी इन्हीं प्रमाणों को मानते हैं। परन्तु राजवीर शास्त्री किसी भी प्रमाण को नहीं मानते। यह व्यक्ति अपने स्वार्थ को ही प्रमाण मानते हैं। इसलिये राजवीर जी ने 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के प्रमाण में पाँच ऋषियों के वचनों को ही प्रमाण कहना आरम्भ कर दिया। १—ऋषि दयानन्द कोई प्रमाण नहीं, २—पतञ्जलि—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ३.१।, मूर्ध्नि ज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।। यो. ३.३२, हृदये चित्त संवित् "यो. ३.३४ ३—व्यास ऋषि २-नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्र, इत्यादिषु .... बन्ध इति धारणा (यो. ३।१) २—'शिर कपाले.........सिद्धानां .... दर्शनम् (यो. ३।३२) (३—'हृदयेचित संवित्' (यो. ३।३४)

२—(महर्षि पाणिनि) 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् 'मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् (वर्णोच्चारण शिक्षा)

४—(कठोपनिषद् यमाचार्य) 'शतं चैका च हृदस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभि निस्सृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (कठ. २।३।१६)

अर्थात् हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक नाड़ी हृदय से निकलकर मूर्धा में जाती है। मूर्धा से ऊपर गई हुई नाड़ी मुक्ति को जाती है।

राजवीर शास्त्री ने इन पाँच ऋषियों के लेख में से चुनकर 'शरीर में जीवात्मा का स्थान' के प्रमाण में लिखा था, परन्तु परीक्षण करने से यह सिद्ध हो गया कि ऋषियों के लेख राजवीर के सोचे हुये प्रमाणों की अणुमात्र भी पुष्टि नहीं करते। मैंने अपनी पुस्तक में बड़े विस्तार के साथ वेदादि शास्त्रों के बीसियों प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि शरीर में दुराग्रह को छोड़कर सत्य को ग्रहण करें और असत्य का परित्याग करें।

मानव जीवन की सफलता सत्य के ग्रहण करने से ही है।

राजवीर शास्त्री ने अपने पत्र 'दयानन्द सन्देश' नवम्बर १९८४ में मेरी पुस्तक 'मानव शरीर और जीवात्मा' की समीक्षा (२) के द्वारा मुझसे प्रश्न किया—

"क्या ऋषि दयानन्द कृत हृदय सम्बन्धी व्याख्या मिथ्या है?"

मेरा उत्तर है कि राजवीर शास्त्री ने ऋषि दयानन्द के नाम से जो हृदय सम्बन्धी लेख लिखा है वह सर्वथा झूठ और जाली है। इस उत्तर में अनेक कारण है जो आगे लिखे जाते हैं—

(१) ऋषि दयानन्द प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना किसी लेख को सत्य नहीं मानते थे। राजवीर के लेख में प्रत्यक्षादि प्रमाण कोई नहीं, इसलिये राजवीर का लेख एक जालसाजी है।

(२) राजवीर ने जो लेख लिखा वह ऋषि दयानन्द की शैली के विरुद्ध है जैसा मेंने पृष्ठ १२, १३ पर दर्शाया है

(३)—ऋषि दयानन्द ने राजवीर शास्त्री के जाल लेख को झूठा सिद्ध कर दिया है, देखिये—

"राजवीर शास्त्री ने अपने पत्र 'दयानन्द-सन्देश' दिसम्बर १९८३ में आर्य विद्वानों का प्रबल विरोध करते हुये लिखा—'ये भी दया के पात्र हैं, जिन्हें शारीरिक विज्ञान का इतना भी बोध नहीं कि महर्षि के लेखानुसार जो स्थान बताया गया है। वहाँ रक्त शोधक यन्त्र नहीं है। पुरुष सूक्त में हृदय को को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।" राजवीर का यह लेख कौरा झूठ है। पुरुष सूक्त तो ऋग्वेद के दसवें मण्डल का ९० वां सूक्त है इसी को पुरुष सूक्त कहा जाता है। राजवीर ने अपने उस झूठे कथन को स्वीकार किया है, परन्तु यजुर्वेद के अध्याय ३१ के पहले मन्त्र 'सहस्त्रशीर्षा' में भी यह स्पष्ट हो गया कि ऋषि दयानन्द ने राजवीर के इस झूठे कथन को कि 'पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है' नहीं माना है। चाहे ऋग्वेद हो, यजुर्वेद हो, अथर्ववेद हो या सामवेद हो। किसी भी वेद या शास्त्र में ऋषि दयानन्द का राजवीर के इस झूठे कथन का नाम और निशान नहीं मिलेगा।

राजवीर ने अपने झूठ को छिपाने के लिये लिखा है—'लेखक ने .... स्वयं किये अर्थ में न तो प्रकरण ही समझा है और नही शब्दार्थ को, इसलिये अप्रासंगिक अर्थ होने से यथार्थ से दूर है।" राजवीर का स्वभाव ही झूठ से भरा हुआ है, इसलिये यहाँ भी झूठ लिखा है। मैंने छान्द. उ. ८ १।१ मन्त्र का जो अर्थ किया वह दूसरे विद्वानों ने भी किया है। कुछ विद्वानों के प्रमाण ये हैं—

१—स्वामी सत्यानन्द जी महाराज (११ उपनिषदों के भाष्य कर्त्ता) ने लिखा है—(अथ यदिदम्) अब दहरो विद्या कही जाती है। इस ब्रह्मपुर में भगवद् भक्त के शरीर में जो यह कमल गृह है, हृदय है और इसमें भीतर जो सूक्ष्म आकाश आत्म निवास स्थान है, उसमें जो भीतर चैतन्य ज्योति है। वह खोजने योग्य है। ब्रह्म की उपासना, आराधना मनुष्य शरीर में होती है इस कारण यह ब्रह्मपुर है।

श्री उदयवीर जी शास्त्री—"छान्दोग्य उपनिषद् (८।१।१) में कहा—अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिसासितव्यम्'।।

अर्थ—अब जो यह इस ब्रह्मपुर में कमल-आकृति छोटा घर है, उसमें अन्दर अत्यल्प अवकाश है, उसके अन्दर जो बैठा है उसे ढूँढना और उसे ही जानना चाहिये, साधारणतया 'ब्रह्मपुर' पद यहाँ स्थूल शरीर के लिये प्रयुक्त है। इस शरीर में छोटा सा कमलाकृति घर है, यह मस्तिष्क दो भागों की सन्धि में अवस्थित है। उसके मध्य में जो बहुत थोड़ा अवकाश है, वहाँ आत्मा का निवास है। और वहीं आत्मा द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यहाँ ब्रह्मपुर पद का अर्थ हृदय देश समझा जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं।"

ऊपर लिखे हुये दोनों विद्वानों ने (छा. उ. ८।१।१) मन्त्रार्थ में राजवीर के जाली लेख का खण्डन करके सिद्ध कर दिया कि वह जाली लेख ऋषि दयानन्द का नहीं। राजवीर ने पं. उदयवीर जी शास्त्री के लेख की उद्धृत करके अपने झूठ को कई गुना बढ़ा दिया। 'प. उदयवीर जी ने प्रक्षिप्त लेख के 'ब्रह्मपुर पद का

अर्थ हृदय देश समझा जाये तो भी कोई आपत्ति नहीं' राजवीर का यह लेख एक धोखा है क्योंकि उदयवीर शास्त्री जी की शर्त है—'यह मस्तिष्क के दो भागों की सन्धि में अवस्थित है .... यहाँ आत्मा का निवास है, और वहीं आत्मा द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यहाँ ब्रह्मपुर पद का अर्थ हृदय देश समझा जाये तो भी कोई आपत्ति नहीं''

मैंने भी अपने लेख में ''मन्त्र में कण्ठ, स्तन, उदर, हृदय, नगर, ऊपर तथा ऊँचे परमेश्वर आदि का संकेत तक भी नहीं है।'' जो लिखा है उसका पूर्ण रूप से उक्त विद्वानों ने समर्थन किया है, परन्तु राजवीर दुगने, तिगुने और अधिक झूठ बोलने में भगवान् से किञ्चित् भी भय नहीं करते। देखिये? मेरा आक्षेप वेदान्त शास्त्र के 'दहर उत्तरेभ्य' पर नहीं है। मेरा आक्षेप तो उस लेख पर है जो ऋग्वेदादि भा. भू. उपा. विषय में छा. ८।१।१। मन्त्र की व्याख्या में ऋषि दयानन्द के नाम से पौराणिक पण्डित ने प्रक्षेप किया था, परन्तु राजवीर शास्त्री उस झूठ को छिपाने के लिये वेदान्त शास्त्र को बीच में घुसेड़ते हैं। और धोखा देने के लिये मेरे लेख में से 'कण्ठ, स्तन, उदर, नगर, ऊपर, ऊँचे इन छः शब्दों को छोड़कर केवल दो शब्द 'हृदय और नगर ही रक्खे। मेरा आक्षेप यह था कि छा. ८।१।१। मन्त्र में ये आठ शब्द हैं ही नहीं तो हिन्दी में ये शब्द कहाँ से आ गये? ऋषि दयानन्द की शैली यह थी कि वे बिना प्रमाण के किसी लेख को नहीं लिखते थे। राजवीर की शैली यह है कि वह स्वयं झूठ बोलते हैं और दूसरों से बुलवाते हैं। उनकी शैली है—'आम्रान् पृष्टः कोविदारान्आचष्टे'' मेरा आक्षेप 'ऋ.भा.भू. उपा. पर था परन्तु राजवीर ने वेदान्त को आगे कर दिया।

आप लिखते हैं—'उसकी खोज करनी चाहिये' खोज किसकी करेंगे, यदि मन्त्र में उस अर्थ को बताने वाला कोई शब्द नहीं है? लेखक का अर्थ कितना प्रकरण विरुद्ध है कि ब्रह्मपरक शब्द की व्याख्या 'अल्पआकाश' किया है, इसकी खोज करना ही उपनिषत्कार को अभीष्ट है? और मन्त्र में 'अस्मिन् पद है उसका 'तस्मिन्' पद मानकर व्याख्या कौन से व्याकरण से हो सकती है? यह तो लेखक ही समझ सकते हैं!!

राजवीर शास्त्री ने इस सन्दर्भ में तीन प्रश्न किये हैं—'खोज किसकी, बताने वाला कौन, दूसरा—खोज का अर्थ करना, तीसरा—ब्रह्मपरक शब्द की व्याख्या?

समाधान—'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानि पैठ।

हौं बोरी ढूंढन गई रही किनारे बैठ।

खोज करने वाले व्यक्ति तो अनेक हैं, परन्तु संक्षेप में दो विद्वानों का नाम लेता हूँ १—स्वामी सत्यानन्द जी महाराज, २—पण्डित उदयवीर जी शास्त्री जिन्होनें लगभग ६० वर्षों तक वेदादि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया और छः शास्त्रों का भाष्य किया। वेदान्त शास्त्र के बड़े साइज में आठ सौ पृष्ठों का पवित्र ग्रन्थ तैयार किया जिसका भारी लाभ मैं भी बीसियों वर्षों से उठा रहा हूँ। ब्रह्मपरक शब्द की व्याख्या और 'दहर उत्तरेभ्य:' प्रसिद्ध प्रकरण की व्याख्या सैकड़ो पृष्ठों पर की है। और पूजनीय स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने ११ उपनिषदों की सुन्दर व्याख्या की थी। मैं सन् १९२६ से उस पवित्र ग्रन्थ को अपने जीवन का साथी समझता रहा हूँ। इन वेदान्त शास्त्रों में मेरी अत्यधिक भावना रही है। मैंने बीसियों बार इन ग्रन्थों को दोहराया है और अधिकतर कण्ठस्थ भी किया है।

मैं लगभग सन् १९१३ से लेकर आज सन् १९८५ जनवरी तक अर्थात् ७३ वर्ष तक ऋषि दयानन्द का अनन्य भक्त रहा हूँ। ऋषि के सिद्धान्तों की रक्षा के लिये अनेक बार जेलों और भूख प्यास और पिटाई छिताई भी सहन करता रहा। शास्त्री जी के ये लेख गडरियों के गीतों के समान है। सत्यता को ग्रहण करना उनके लिये असम्भव सा है।

राजवीर शास्त्री की अन्तिम शिकायतें?

१—लेखक ने विशेषण विशेष्य भाव की अनभिज्ञता का भी ऋषि के अर्थ में दोष लगाया है। किन्तु यह भी उपनिषदों की भाषा शैली को न समझने के कारण ही दोष दिखाई देता है। लेखक ने (दहरं पुण्डरीकं वेश्म) तीनों पदों को मिलाकर अर्थ किया है और दहरं शब्द को 'वेश्म' शब्द का विशेषण माना है। परन्तु यदि यहाँ (च) का पाठ होता तो भाषा की दृष्टि से अशुद्धि प्रतीत न होती किन्तु दृष्टव्य तो यह है कि क्या उपनिषदों की भाषा की यह शैली है?

२—लेखक ने ऋषिवर दयानन्द के लेख में 'ब्रह्मपुर' शब्द की जो हृदयपरक व्याख्या की है, उस पर दोषारोपण किया है। किन्तु क्या व्याख्या करने वाले को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी शब्द की व्याख्या आवश्यक समझ कर सके? और यदि ऋषि की व्याख्या पर आपको आपत्ति ही है तो अपने मस्तिष्क परक व्याख्याओं पर भी क्या यह दोष नहीं आता? देखिये—

(क) 'हृदय' पद से मस्तिष्क गत उस समस्त भाग का ग्रहण हो जाता है, जो आत्मा का सुरक्षित निवास है।

(ख) 'इस शरीर में छोटा सा कमलाकृति घर है, यह मस्तिष्क के दो भागों की सन्धि में अवस्थित है, (वेदान्त दर्शन

१३।२४) सूत्र की श्री उदयवीर जी कृत व्याख्या) क्या लेखक बता सकेंगे कि यह मस्तिष्क परक व्याख्या मन्त्र के किस शब्द के अर्थ है?

३—लेखक ने ऋषि दयानन्द के अर्थ पर यह आक्षेप किया है कि ऐसा ही अर्थ श्री वाचस्पति आदि पौराणिक भाष्यकारों ने भी किया है। यदि कोई बात सत्य है, और उसे वैसा ही विपक्षी भी मानता है, तो क्या उस सत्य को भी नहीं मानना चाहिये? यदि कुरान या पुराणों में सत्य की प्रशंसा मिलती है, तो क्या उसे विपक्षी का मत मानकर छोड़ देना चाहिये, यदि नहीं तो ऋषि की व्याख्या से समस्त व्याख्या को पौराणिक मानकर क्यों त्याज्य बताया जाये?

राजवीर शास्त्री के पहले झूठ 'दिसम्बर १९८३ (दयानन्द-सन्देश) का पर्दाफाश कर दिया था, जिसको पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया जिसका सैकडों सत्यप्रिय सज्जनों ने स्वागत किया था, परन्तु इस लेख से राजवीर शास्त्री की वासी कढ़ी में उबाल आया और उसने अपने पत्रों आश्विन १९८४ तथा नवम्बर १९८१ (दयानन्द-सन्देश) के द्वारा झूठी बातों का जाल फैला दिया।

राजवीर शास्त्री की स्थिति ऐसी है—"आधी को छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावै।" यह एक कहावत है कि किसी कुत्ते को एक रोटी का टुकड़ा मिल गया, वह टुकड़े को मुँह में दबाकर पानी में दूसरे कुत्ते की परछाई दिखाई दी, दूसरे के मुँह में रोटी का टुकड़ा दिखाई दिया। कुत्ता स्वभाव से लोभी होता है। कुत्ता गुर्राया और परछाई पर झपटा मारने को दौड़ा उसी समय उसके मुँह से रोटी का टुकड़ा पानी में गिर गया और

बह गया।' उसी पर यह कहावत है।'' किसी समय ऋ.आ.भा. उपा. विषय पर स्वामी दयानन्द जी ने उपासना के विषय में उपनिषदों के प्रमाण रूप में कई उपनिषदों को उद्धृत किया। उनमें से एक मन्त्र यह था—

''अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति। ३।।छा.प्र.८।१।१।।

संस्कृत भाषा सरल थी अतः किसी पण्डित को हिन्दी अनुवाद को करने के लिये कह दिया, परन्तु उस पण्डित ने प्रक्षेप के रूप में ये अर्थ किये ''जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि (अथ यदिद.) कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार का वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर तथा भीतर एक रस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल सकता है दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है।'' यह हिन्दी में लिखा गया लेख उसी धोखेबाज पण्डित का है, जो संस्कृत में लिखे गये उपनिषद् मन्त्र (छा. ८।१।१) के सर्वथा विरुद्ध थे। उस धोखेबाज का उद्देश्य यह था कि ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों में गड़बड़ी डाली जाये। और उनके शिष्यों को प्रेरणा की कि ईश्वर की प्राप्ति का केवल यही उपाय है और कोई उपाय नहीं। उन ही जैसे लोगों की प्रेरणा से राजवीर शास्त्री

ने उसको अपना ध्येय बनाया। इस या बारह वर्षों से राजवीर का यही धर्म और ईमान बना हुआ है। जनता को धोखा देने के लिये वह महर्षि दयानन्द को बीच में डाल रहे हैं। हमने दिसम्बर सन् १९८३ में राजवीर के पत्र 'दयानन्द-सन्देश' को पढ़ा जिसमें वही पाखण्ड भरा हुआ था। हमने स्वयं ऋषि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्यों को बड़े ध्यान से पढ़ा। उसके साथ राजवीर का यह लेख उसके पत्र में था, जिसमें लिखा था;—

"पुरुष सूक्त में हृदय को नाभि से १० अंगुल ऊपर माना है।"

मैंने ऋ.भा.भू. मन्त्र १ अध्याय ३१' को बड़े ध्यान से पढ़ा (संस्कृत और हिन्दी भाष्य) हिन्दी;—"तथा पाँच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नव और दशवाँ जीव ये दश अवयव भी लिये जा सकते हैं और शरीर में हृदय देश है वह भी दश अंगुल के प्रमाण से लिया है।" इससे राजवीर के झूठ का भाण्डा अच्छी प्रकार से फूट गया। इसके साथ ही हमने यजुर्वेद के अध्याय ३१ मन्त्र १ को भी पढ़ा। उसमें लिखे हुये देखा गया—

"यद्वा नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदिस्थितः" (महीधर आचार्य यजु. ११।१)

अर्थ—'नाभि' के पास से आत्मा हटकर ऊपर की ओर दश अंगुल के दूरी पर हृदय देश में रहता है। इससे स्पष्ट हो गया कि नाभि से दश अंगुल ऊपर दोनों स्तनों के बीच में परमात्मा के घर की बात महीधर के अनुयायियों की मान्यता है, परन्तु अपने स्वार्थ के लिये राजवीर ने आर्य समाजियों को धोखा देने के लिये ऋषि दयानन्द का नाम लेना जारी रखा।

परन्तु अब आर्य लोग भी सचेत हो गये हैं। पहले ऋषि दयानन्द के नाम से धोखा देते थे, परन्तु अब राजवीर ऋषि दयानन्द के विरोधी बन गये हैं।

मैंने यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २ के ऋषि दयानन्द भाष्य को पढ़ा उसमें लिखा था—

"प्राणश्च मेऽपानश्च ने व्यानश्च मे .... यज्ञेन कल्पन्ताम् यजु. १८।२ अर्थात् मेरा (प्राण:) हृदय जीवन मूल (च) और कण्ठ देश में रहने वाला पवन (मे) मेरा (अपान:) नाभि से नीचे को जाने (च) और नाभि में ठहरने वाला पवन वे सब धर्मों के अनुष्ठान से समर्थ हो।" ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के सौ (१००) नामों की व्याख्या में 'प्राण' शब्द के महत्त्व को लिखते हुये कहा है—

"प्राण सबका जीवन मूल होने से प्राण परमेश्वर का नाम है।"

ऋषि दयानन्द के १८।२ भाष्य की पुष्टि प्रश्नोपनिषद् के ऋषि पिप्पलाद और पातंजलयोग (३.३९) के भाष्यकार ऋषि व्यास से भी होती है जिसमें (मुख्य) प्राण का स्थान मुख ओर नासिका में रहते हुये ही हृदय में निवास करता है। इस लेख से राजवीर के उस झूठ का पोल अच्छी प्रकार से खुल गया। अब जीवात्मा का स्थान और ईश्वर का घर दोनों स्तनों के बीच में कण्ठ के नीच एक गर्त (गडढे) में छुपा नहीं बैठा हुआ है। वह कहाँ बैठा है?

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम्" यजु. ४०।८।।

अर्थात्—वह परमेश्वर सब स्थानों में समाया हुआ है वह पवित्र है वह काया रहित है, फोडे फुन्सियों से रहित है स्नायु से बँधा हुआ नहीं है वह सब प्रकार से पवित्र है।'' राजवीर की सबसे बड़ी सम्पत्ति यही थी कि दोनों स्तनों के बीच में एक गड्ढे में परमात्मा बैठा हुआ है, बस उसी से सबकुछ मिल जायेगा'' परन्तु अब तो उसके झूठ का भाण्डा फूट चुका है। झूठ और गप्पबाजी के अतिरिक्त उनके पास कुछ रहा ही नहीं ऋषि दयानन्द ने जब आर्य समाज की स्थापना की, उस समय ऋषिवर ने आर्य लोगों के जीवन की पवित्रता रखने के लिये दस नियमों की स्थापना की थी वे नियम थे—

१. ''सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि कर्त्ता है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत करना चाहिये।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।"

ये १० नियम आर्य समाज की बुनियाद माने जाते हैं। जो व्यक्ति इन नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करेगा वह आर्य समाज का अनुयायी कहलायेगा। जो इन नियमों की अवेहलना करेगा वह अनार्य ही रहेगा।

ऋषि दयानन्द ने आर्यत्व को ठीक ठाक परम्परा बनाये रखने के लिये तीन भावनाओं को अत्यन्त आवश्यक समझा था। ये भावनायें थी धर्म, ईश्वर की आज्ञा का यथावत पालन, पक्षपात रहित न्याय जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये मानने योग्य है, इसको धर्म कहते है।

राजवीर शास्त्री ऋषि दयानन्द की इन भावनाओं को स्वीकार नहीं करते थे इससे स्पष्ट है कि वे ईश्वर की भक्ति से मुँह मोडते थे न्यायप्रिय नहीं थे। क्रूर व्यवहार रखते थे वेदों में उनकी आस्था नहीं थी। ये सब दोष प्रत्यक्षादि प्रमाणों पर पूर्ण रूप से ध्यान न देने से अवश्यम्भावी होते है।

वाणी मात्र से सत्य कहना भी प्रमाण नहीं माना जा सकता है, उसकी सत्यता भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही मानी जाती है। इससे भी राजवीर एक सत्यवादी व्यक्ति नहीं माना जाता। इन्हीं दोष के कारण राजवीर आर्य समाज के दस नियमों का विरोधी है।

ऋषि दयानन्द सरस्वती सत्य से बढ़कर संसार की किसी वस्तु को नहीं मानते थे। इसीलिये उन्होनें अपने सर्वोत्तम ग्रन्थ का नाम सत्यार्थ-प्रकाश रखा, और अपने अनुयायियों को भी यही कहते थे—

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

सत्य की जय होती है, झूठ की नहीं, मुक्ति का मार्ग भी सत्य से ही खुलता है।

'नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।

नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत्।।

ऋषि दयानन्द ने 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में फिर चेतावनी दी है कि सत्य की पहचान भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भागता है वह स्वयं न तो शिष्ट कहाता है और न उसका व्यवहार ही शिष्टाचार कहलाता है। इस प्रकार का व्यक्ति आर्यत्व की श्रेणी से बाहर है। वह झूठ को ही अपना धर्म समझता है।

राजवीर शास्त्री पण्डित उदयवीर जी शास्त्री के द्वारा लिखे गये वक्तव्य को मेरे से पूछते हैं (क) हृदय पद से मस्तिष्क गत उस समस्त भाग का ग्रहण हो जाता है, जो आत्मा का सुरक्षित निवास है।

(ख) इस शरीर में छोटा सा कमलाकृति घर है, यह मस्तिष्क के दो भागों की सन्धि में अवस्थित है। (वेदान्त दर्शन

१।३।१४) सूत्र की श्री उदयवीर जी कृत व्याख्या) क्या लेखक बता सकेंगे कि यह मस्तिष्क परक व्याख्या मन्त्र के किस शब्द के अर्थ की है?

राजवीर जी शास्त्री का यह प्रश्न ऐसा नहीं है जो उसके मस्तिष्क में समा सकता हो। पण्डित उदयवीर जी वैज्ञानिक विषय को समझ सकते हैं, क्योंकि वे मस्तिष्क से काम लेते हैं। राजवीर मस्तिष्क से बहुत नीचे स्तर पर दोनों स्तनों के बीच में एक गड्ढे (गर्त्त) में विश्राम किया करते हैं। उनमें मन्त्र को पहचानने की भी योग्यता नहीं है। मन्त्रों को कौन जानता है? इसको ध्यान से सुनना चाहिये—

वदोऽखिलोधर्ममूलं, स्मृतिशीले तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

सारे वेद धर्म का मूल है और वेदों को जानने वाले विद्वानों की स्मृति और शील और साधु पुरुषों का आचार तथा अपनी भी तुष्टि होनी चाहिये। इस प्रकार के महापुरुष ही वैज्ञानिक विषयों को समझ सकते हैं।

शरीर की रचना के सम्बन्ध में एक महान् पुरुष का ग्रन्थ टटोलना चाहिये—

'प्रत्यक्ष शारीररम्' पुस्तक महामहोपाध्याय श्री गणनाथ सेन शर्मा सरस्वती एम.ए.एल.एस, महाशयेन विरचित: प्रत्यक्ष दृष्ट-नरदेह तत्त्व- वर्णनपर: शरीरग्रन्थ:)

यह ग्रन्थ मुझे सन् १९६० ई. में मेरे एक भतीजे से मिली थी। इसकी भूमिका भी गणनाथ सेन ने ही अंग्रेजी में लिखी थी शेष ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त हुई

थी, लगभग एक सहस्त्र पृष्ठों में छपी थी। इस समय भी यह मेरे पास है। मैं इस पुस्तक का लगभग कई पारायण कर चुका हूँ। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के नाडी खण्ड में लिखा है—

अथातो निखिल ज्ञानप्रयत्नसामान्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

निखिलं खल्विह ज्ञानं प्रयत्नञ्च प्राणिनांभूम्रा शरीर तन्त्रम्।

तदायतनञ्च प्रधानं शिरसि मस्तुलुङ्गपिण्डं नाम मानुषाणाम्,

अन्येषाञ्च पृष्ठ वंशवतां प्रायः तथैव हि सर्वासां संज्ञानां संज्ञावहा भिर्नाडीभिरुपनीतानां प्रवेशः प्रकाशश्च तत पृथक् पृथक् अंगेषु।

सम्भवश्च प्रायेण तस्यैवांशेभ्यश्चेष्टा वेगानाम्,

प्रसरश्च चेष्टावहाभिर्नाडीभिस्तत्तदङ्गेषुबाह्येषु।

बहुपरीक्षा सिद्धञ्चैतत्। तत्तदंशोत्तेजने तत्तत् संज्ञा-चेष्टा सम्भवात्,

तत्तदंशध्वंसने तत्तत् संज्ञाचेष्टाध्वंसाच्च।

तत्र न साङ्गोपङ्ग मस्तिष्कं सहस्त्रदलपद्मसादृश्यात् सहस्त्रारमिति

सर्वज्ञानप्रयत्नकरं मन्यन्ते योगिनः।

अर्थात्—यहाँ से निखिल ज्ञान, प्रयत्न, सामान्य विज्ञान सम्बन्धी अध्याय का आरम्भ करते हैं—यहाँ प्राणियों का ही अधिकतर शरीर तन्त्र ज्ञान, प्रयत्न से युक्त कहा गया है। इसका अधिक विस्तार सिर में है जिसका नाम 'मस्तुलुङ्गपिण्ड' कहा जाता है यह विषय मनुष्यों के समान ही पृष्ठवंशी प्राणियों का भी कहा जा सकता है। संज्ञावह नाडियाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर से मस्तिष्क की ओर ऊपर जाना है और चेष्टावह नाडियाँ

ऊपर से नीचे की ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। चेष्ट वह नाडियों का सम्बन्ध नीचे की नाडियों से है, इसका परीक्षण इस प्रकार से होता है कि नीचे की नाडियों के साथ बिजली आदि का झटका लगने से ऊपर की चेष्टा नाडियों का प्रभाव देखा जाता है। यह परीक्षण सैकडों बार किया गया है। जो सर्वदा ठीक ही निकलता है। नीचे की नाडी के ध्वंश होने से ऊपर की नाडी भी ध्वंस हो जाती है मस्तुलुङ्ग पिण्ड को 'Brain or Encephalon' कहते हैं। इसके तीन भाग है—यथा मस्तिष्क, अनुमस्तिष्क, सुषुम्ना शीर्षक। इनमें से मस्तिष्क (Cereburm) प्रधान है अनुमस्तिष्क के दो भाग हैं। आगे के भाग को उषीषक (Bons) कहते हैं और पिछले भाग को धम्मिल्लक (Cerebeilum) कहते हैं। सुषुम्ना शीर्षक तो मेरुदण्ड में रहने वाले सुषुम्ना काण्ड का सिर में शिखरभूत है इनको यथाक्रम Medulla oblagata spinabs or spinal cord' है।

'सुश्रुत' में बुद्धि का स्थान हृदय हैं' ऐसा जो कहा जाता है वह हृदय मस्तिष्कान्तर्गत हृदय हैं।' रक्त विक्षेपक हृदय नहीं'' योगी लोग षडचक्र निरूपण में कहते हैं कि ''एतद् पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्म रूप प्रसिद्धम्। बुद्धि मन से पृथक् नहीं रह सकती। उपनिषद् में कहा है ''य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। (यहाँ अन्तर्हृदय आकाश का अर्थ यह है कि मस्तिष्क में रहने वाले हृदय में आकाश रूप स्थान है)

मानव शरीर की रचना, 'रचित शरीर में जीवात्मा का स्थान' (जीवात्मा का परिमाण—परिच्छिन्न सूक्ष्म परमाणु में भी (समाजाने के योग्य ऋषि दयानन्द का प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध)

श्री गणनाथ सेन ने स्वयं प्रत्यक्ष क्रियाओं द्वारा मानव शरीर की रचना देखी

''एवञ्च क्रमशो विशेष निष्पत्तिरा द्वितीयमासात्तु षण्मासावधि दृष्टा भ्रूणसहस्रपरीक्षया प्रेक्षवृद्‌भिः। इमे चात्र नाड़ी तन्त्रोत्पत्ति स्मारकाः श्लोकाः गर्भस्य मासि प्रथमे हि नाडीतन्त्र प्रसूस्थान्नलिका सुतन्वा।

तच्छीर्षतो रोहति मस्तलुङ्ग कृत्स्नं, सुषुम्नादि पुन्छभागात्।।१।।

सामान्यस्तविशेष भागान् प्रोद्भिद्यमानान् शृणु सावधानम्।

मासाद् द्वितीयात् प्रभृति क्रमेणषण्मासकालावधि यत् प्रमूत्तिः।।२।।

अथेह तच्छीर्षकपिण्डमेतद् विभज्यमानत्रिषु बुद्‌बुदेषु।।३।।

तत्राग्रिमात् छत्रिक-सेतु युक्त गोलार्द्ध युग्मं त्रिपथे गुहे च।

आज्ञाह्व-कन्द द्वितयान्तराले स्याद् ब्रह्महृत् पोषणकश्च नीचैः।।४।।

गर्भ में रहने वाला बालक का तो नाड़ी तन्त्र के निर्माण का यह प्रकार है कि भ्रूण का पहले ही मास में बाह्य स्तर से पीठ की मध्य रेखा में एक रेखा बन जाती है। परिरेखा के दोनों किनारों पर शनैः २ मिल जाने से नाड़ीतन्त्र से नलिका बन जाती है उस नलिका के फैल जाने से बढ़े हुये सिर के भाग से सारे मस्तुलुङ्ग पिण्ड का निर्माण हो जाता है बचे हुये भाग से तो सुषुम्ना काण्ड का निर्माण होता है। रेखा के दोनों किनारे से मेरूतन्त्र की नाडियाँ उत्पन्न हो जाती है। नलिका के दोनों ओर स्वतन्त्र नाड़ी शृंखला का निर्माण होता है। इसे इडा पिंगला कहते हैं। परिरेखा के बीच एक ओर सूक्ष्मरन्ध्र का निर्माण हो जाता है

जिसे ब्रह्ममार्ग कहा जाता है। मस्तुण्लुङ्ग पिण्ड (सिर के सारे भाग को मस्तुलुङ्ग पिण्ड कहा जाता है।) तो प्रारम्भ से ही तीन बुदबुदो में विभक्त होता है (१७९ चित्र) क्रमशः हंसग्रीवा के समान टेढा होकर ठहरता है। तीन पिण्डो में विभक्त हो जाता है कोष गर्भों में, वहाँ अगले पिण्ड से मस्तिष्क के दो गोलार्द्ध हो जाते हैं उसके अन्दर ये वस्तुयें देखी जाती हैं—मस्तिष्क सेतु, छत्रिका, मध्यस्थ व्रह्महृदयम, दोनों ओर से आज्ञाकन्द दोनों, त्रिपथनाभ की गुहाये, वृन्तिक, हाजिल पिण्ड, औस, गन्ध के मूल दो चूचक (चित्र १७९ में देखना चाहिये) मध्यम-मस्तिष्क मूल, मृणालक, चारक लायिकायें सुरंगिका। पश्चिम-सुषुम्ना शीर्षक, उष्णीषक, प्राण गुहा।।

आयुर्वेद शास्त्रों के निष्णात प्राचीन ऋषियों की पवित्र सम्मतियाँ भी श्री गणनाथ सेन जी ने दी हैं—"प्राणाः प्राणभृतौ यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च। यदुत्तमाङ्गमङ्गनां शिरस्तदभिधीयते"।। (चरक सूक्त स्थान अ. १७)

अर्थात्—प्राणियों का प्राण जहाँ ठहरता है और सारी इन्द्रियों का भी जहाँ स्थान है वह अंगों में सबसे उत्तम अङ्ग है उसको सिर कहा जाता है

भेल संहिता—"शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। यत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्। समीपस्थान विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति तन्मनः प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियं वलम्।।

(भेलसंहिताचिकित्सा स्थानम्)

अर्थ—शिर में तालु के बीच में सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन है। वहीं रहता हुआ मन सब इन्द्रियों के समीप होते हुये इन्द्रियों के

रसआदि विषयों को अच्छी प्रकार जानता है। अष्टाँगहृदय "उर्ध्व मूलमधः शाखं ऋषयः पुरुषं विदुः। मूल, प्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं ययेत।।

सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राण येन च संश्रिताः। तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामाहतो भवेत्।।"

अर्थ—ऋषि लोग यह जानते हैं कि पुरुष (जीवात्मा) का मूल ऊपर की ओर है और शाखा नीचे को है। इसलिये मूल में प्रहार करने वाले रोग की चिकित्सा शीघ्रतर होनी चाहिये।

जिस कारण से सब इन्द्रियाँ और सब प्राण इस उत्तमाङ्ग शिर में ठहरते हैं। इसलिये उस उत्तमाँग की रक्षा में आदरयुक्त होना चाहिये।

(अष्टांग हृदयम् इति प्रथमो अध्यायः प्रत्यक्ष शरीरम्)

टिप्पणी–(प्राण गुहा– Fourth ventrical all the vital centers are situated in and about this spot) प्राण गुहा चौथी गुहा (सुषुम्ना शीर्षक) के आसपास प्राण शक्ति रहती है। प्राण गुहा वही है जिसमें चरक का कथित प्राणधारियों का प्राण ठहरता है। आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने चरक आदि का समर्थन किया है।

'प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः' यह न्याय दर्शन का प्रसिद्ध कथन है। सभी दर्शन शास्त्र सत्यता को जानने के लिये प्रमाणों का होना आवश्यक मानते हैं, न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि मुख्य रूप से चार प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द) मानते थे। ऋषि दयानन्द ने गौतम ऋषि के चार मुख्य और चार गोणों को मिलाकर आठ प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव) को

अनिवार्य माना है। न्याय के अतिरिक्त वैशिषिक, साँख्य, योग, मीमांसा और वेदान्तशास्त्र के प्रणेता भी चार या तीन प्रमाण अनिवार्य मानते हैं मुख्य प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। महामहोपाध्याय गणनाथसेन ने प्रत्यक्ष शरीरशास्त्र की रचना करके भारतीय समाज को मानव शरीर की रचना के लिये सत्य मार्ग को दिखा दिया, इस अति दुर्लभ ज्ञान की गंगा को बहा दिया। इस असीम उपकार को प्रदर्शिन करने के लिये सैकड़ों प्रतिभाशाली आयुर्वेद विज्ञान के प्रवक्ताओं ने प्रशस्ति पत्र भेजे हैं। मैंने स्वयं ३०१ चित्रों को अपनी आँखों से देखा है जिससे मानव शरीर की रचना का आन्तरिक ज्ञान जाना जाता है। इसलिये मैं भी श्री गणनाथ सेन का अत्यन्त आभारी हूँ। हमारे एक प्रतिपक्षी व्यक्ति राजवीर शास्त्री ने ऐसे शास्त्रों का दर्शन भी नहीं किया, उल्टा उसने चरक संहिता का भी अपमान किया है। उसका स्वभाव ही बन गया कि वैज्ञानिक आध्यात्मिक पुरुषों से घृणा करना वैसे उसकी दौड़ एक स्कूल के अध्यापक तक ही है। उनको चाहिये यह कि—

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः,
चत्वारि तस्य वर्धनते आयुविद्या यशोबलम्।।

हमारा राजवीर शास्त्री को भी आशीर्वाद मिले।

इति

पूर्णानन्द सरस्वती, बड़ौत जिला मेरठ

(टिप्पणी)

आगे राजवीर शास्त्री ने लिखा—

(च) अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः (कठोपनिषद्)

इसकी व्याख्या में स्वामी आत्मानन्द जी लिखते हैं—

'अंगुष्ठ परिमाण वाला अन्तरात्मा प्राणियों के हृदय के सदा समीप रहता है..... इस प्रसंग में आत्मा को नीचे हृदय में ही बतलाया गया है।

स्वामी आत्मानन्द जी का यह लेख एक मन्त्र का छोटा सा टुकड़ा है। मन्त्र यह है–

'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः'

तं स्वाच्छरीरात् प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।

तं विद्याच्छुक्रममृतं, तं विद्याच्छुक्रममृतम् इति।।कठ ६.१७।।

इसका अर्थ यह है—

अंगुष्ठ मात्र पुरुष सदा मनुष्यों के हृदयों में रहता है। उसको मनुष्य अपने शरीर से धैर्य्य से ऐसे निकाले जैसे मुञ्च के पूले से तिनका खींचकर निकाला जाता है। उस आत्मा को शुद्ध पवित्र और सदा रहने वाला ब्रह्म जानना चाहिये।।

स्वामी आत्मानन्द ने मन्त्र के अर्थ का अनर्थ किया। मन्त्र का अर्थ तो यह है—अन्तरात्मा मनुष्यों के हृदय में अच्छी प्रकार से प्रविष्ट रहता है, परन्तु आत्मानन्द कहता है कि हृदय के सदा समीप रहता है जो अनर्थ है। इसके साथ ही यह झूठ भी लिख दिया कि 'इस प्रसंग में आत्मा को नीचे हृदय में ही बतलाया

गया है। जब परमात्मा मनुष्यों के हृदयों में ओत प्रोत है तो ऊँचे नीचे का प्रसंग कहाँ रहा? फिर आगे अंगुष्ठ परिमाण वाला अन्तरात्मा कैसे हो गया? यह आत्मानन्द को बताना चाहिये था।

आत्मानन्द जी के इस गोल मोल से पता चलता है कि आत्मानन्द उपनिषदों के सम्बन्ध में सर्वथ कोरे हैं, अंगुष्ठ शब्द का नाम तो आत्मानन्द जी ने लिख दिया परन्तु वह यह नहीं बता सके कि वह 'अंगुष्ठमात्र' क्या पदार्थ है!!

कठोपनिषद् के आचार्य 'यम' ने अपने उपनिषद् में लिखा—

'अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते 'एतद्वैतत्'।। २.१.१२

इस उपनिषद् मन्त्र के समन्वय में वेदान्त शास्त्र के ऋषि व्यास लिखते हैं—

अंगुष्ठ मात्र—शब्दादेव प्रमितः। वेदान्त १।३।२४

अर्थात्—शब्द प्रमाण से सर्वव्यापक ब्रह्म परिमित रूप से प्रतिपादित है।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् —वेदान्त ३।१।२५

अर्थ—मनुष्य का अधिकार होने से हृदय में अपेक्षा से अंगुष्ठ—परमात्मा का अंगुष्ठ मात्र से वर्णन—हृदय में जीवात्मा द्वारा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से है स्वतन्त्र से नहीं, क्योंकि शास्त्रवर्णित साक्षात्कार में मनुष्य मात्र का अधिकार है।

उपनिषदों में अंगुष्ठ मात्र का वर्णन चार स्थलों में आता है—

(१) 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति'

अर्थात्—अंगुष्ठ मात्र परमात्मा मनुष्य शरीर में रहता है।

(कठोप. २।१।१२) (ब्रह्म का साक्षात्कार मनुष्य के मस्तिष्क में रहता है जो अंगूठे के आकार का है। मनुष्य का हृदय भी मस्तिष्क में होता है)

इसलिये वेदान्त में कहा है—'हृद्यपेक्षया मनुष्याधिकारत्वात्'। अर्थात् मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से मस्तिष्क के अन्दर अंगूठे के आकार का पदार्थ है।

(२) **'अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः'**

अर्थात्—इसी प्रकार से मनुष्य के हृदय में धूम रहित प्रकाश होता है वहाँ पर भी मस्तिष्क में अंगूठे के आकार का पदार्थ दिखाई देता है। (कठ. २.१.१२

(३) अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

अर्थात्—परमात्मा सदा मनुष्यों के हृदय में रहता है, वह मनुष्य का अन्तरात्मा है, हृदय के अन्दर भी मस्तिष्क में अंगुष्ठ के आकार का होता है। मनुष्य को चाहिये कि उस परमात्मा को अपने शरीर में इसी प्रकार से बड़े धैर्य से टटोले जैसे मूंज से सीक को निकाल लेते हैं और वह मनुष्य यह जान ले कि वह अन्तरात्मा ब्रह्म सर्वथा पवित्र है और सदा रहने वाला है।

(४) अंगुष्ठ मात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः

बुद्धेर्गुणेचैव आराग्रमात्रो ह्यपरोपिदृष्टः॥

(श्वेताश्वतरो उपनिषद् १५।८।

अर्थात्—परमात्मा से भिन्न दूसरा भी जो आत्मा है वह अंगुष्ठ मात्र है। वह सूर्य के समान प्रकाश करने वाला है। संकल्प और अहंकार से युक्त है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही वह सुई की नोक के तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म देखा गया है। जीवात्मा प्रकाशस्वरूप और परम सूक्ष्म है।

वेदान्त शास्त्र के प्रणेता महर्षि व्यास देव इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

अंगुष्ठमात्र—तद्‌गुणसारत्वात्तु तद् व्यपदेशः प्राज्ञवत् (वेदान्त २।३।२९)

अर्थ—स्थान के गुण की प्रधानता से उसका अंगुष्ठमात्र कथन है प्राज्ञवत् प्राज्ञ के समान। कठोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा महर्षि व्यास देव के वेदान्त सूत्रों से यह सिद्ध हो गया कि अंगुष्ठ यह संकेत है कि मनुष्य शरीर के मस्तिष्क के भाग में दोनों भ्रुवों में अंगुष्ठ के आकार का चिन्ह होता है। यह चिन्ह मनुष्य की आयु के अनुसार बढ़ता है। जीवात्मा का आकार सुई की नोक के बराबर कहा जाता है। वेदान्त शास्त्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि 'हृद्यपेक्षयातु मनुष्याधिकारत्वात्' अर्थात् मनुष्य मात्र के अधिकार से ही हृदय की अपेक्षा है। जब यह सिद्ध हो चुका है कि मस्तिष्क में ही जीवात्मा का स्थान है और वह हृदय में रहता है तो राजवीर शास्त्री और उसके गुरु आत्मानन्द जी व्यर्थ में क्यों समय खोते हैं। उपनिषदों, वेदान्त शास्त्रों और वेदों का विरोध करने वाले वेद निन्दक कहे जाते हैं जिससे मनुष्य की प्रतिष्ठा नहीं होती।

❑❑❑

प्रस्तुत पुस्तक के सम्बन्ध में

विद्वज्जनों के उद्गार

नव-प्रकाशित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" पर सम्मति जानने हेतु अनेक गण्य-मान्य आर्य विद्वानों के पास यह पुस्तक भेजी गई व निश्चित अवधि में जो-जो सम्मतियाँ प्राप्त हुई उनकी भी प्रकाशित किया जा रहा है। यह भी प्रसन्नता और गर्व की बात है कि कि उपलब्ध सम्मतियों में लगभग सभी विद्वान् महानुभावों ने पुस्तक का व लेखक के पक्ष का समर्थन ही किया है। यह सारा प्रयास आर्य विद्वानों में मतैक्य-स्थापना हेतु किया गया है।— सम्पादक

श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द जी महाराज

संस्थापक—गुरुकुल महाविद्यालय ततारपुर (हापुड़)

श्री स्वामी पूर्णानन्द जी वयोवृद्ध अनुभवी मननशील एवं वैदिक सिद्धान्तों के पारङ्गत विद्वान् है। आपकी नवीन रचना "मानव शरीर और जीवात्मा" मैंने बड़े ध्यान से पढ़ी। शरीर में जीवात्मा का स्थान कहां पर है? इस समस्या को आपने पाण्डित्यपूर्ण ढंग से युक्ति और प्रमाणों से, बहुत ही अच्छी रीति से सुलझाया है। "जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कस्थ हृदय में है' आप इस मन्तव्य के सम्पादन में पूर्णतया सफल हुए हैं। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

-मुनीश्वरानन्द सरस्वती त्रिवेद-तीर्थः

श्री स्वामी यज्ञानन्द जी महाराज

श्रीमद् दयानन्द वेदविद्यालय गौतम नगर नई दिल्ली

श्री सम्पादक जी नमस्ते,

श्रद्धेय श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज द्वारा लिखित "मानव शरीर और जीवात्मा" नामक पुस्तक पढ़ी। पुस्तक में विद्वान् लेखक ने विषय को स्पष्ट करने के लिए वेद, शास्त्र, उपनिषद्, आयुर्वेद आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कान्तर्गत हृदय में है। स्वाध्यायशील जिज्ञासुओं को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

–यज्ञानन्द सरस्वती

श्री प्रियव्रत वेद-वाचस्पति

भूतपूर्व आचार्य एवं कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रियवर पं० रामकुमार जी

सप्रेम नमस्त

सर्वदा सानन्द होंगे। आपका २.८.८४ का पत्र मिला। आपकी भेजी श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" भी मिल गई थी। मैंने श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ा है। मैं स्वामी जी के विचारों से पूर्णतया सहमत हूँ कि शरीर में जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क में ही है, हृदय में नहीं। श्री स्वामी जी ने वेद–मन्त्रों, उपनिषदों ओर चरक आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों के प्रमाणों से स्पष्ट रूप में सिद्ध किया है कि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्क में ही है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से भी प्रमाणों की स्वामी जी ने अपनी पुस्तक में उद्धृत

किया है और प्रतिपादित किया है। ऋषि की मान्यता भी यही है कि शरीर में आत्मा का स्थान मस्तिष्क ही है। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञानियों ने मस्तिष्क के सम्बन्ध में जो अनुसंधान किये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि चेतना या आत्मा का केन्द्र-स्थान मस्तिष्क ही है। स्वामी जी ने यह पुस्तक लिखकर एक गहन विषय की सुलझाने का बड़ा स्तुत्य काम किया है। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज इसके लिए बधाई के पात्र है।

-प्रियव्रत वेद-वाचस्पति

प्रो० मनुदेव बन्धु

प्राध्यापक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वेद-विभाग (हरिद्वार)

आत्मा का स्थान कहां है? इस विवाद को शान्त करने को विद्वान लेखक स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती जी ने अपनी पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" में स्तुत्य प्रयास किया है। आत्मा का निवास शिरस्थ हृदय में है, वैदिक मन्त्रों व स्वामी दयानन्द के वाक्यों का आश्रय लेकर पक्ष-पोषण का सफल प्रयास श्री स्वामी जी ने किया है।

मेरा भी दृढ़ मत है कि आत्मा का निवास शिर वाले हृदय में हैं, क्योंकि आज के डाक्टर हृदय परिवर्तन कर देते हैं। हृदय परिवर्तन से रोगी यथापूर्व अपना कार्य करता रहता है, अतः विद्वान् लेखक का विचार तर्क संगत तथा वैज्ञानिक है। इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार व प्रसार होना चाहिए। इसी शुभकामना के साथ-

-प्रो. मनुदेव बन्धु

श्री ओमपाल शास्त्री (एम.ए. पी-एच.डी.)

पुरोहित आर्य समाज सं०-७, चण्डीगढ़

मान्यवर

पण्डित श्री रामकुमार जी आर्य!

आपके द्वारा सम्पादित तथा पूज्यपाद श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" सम्मति हेतु प्राप्त हुई। यह विषय आर्य जगत में अधूरा ही था। पूज्य-पाद स्वामी जी ने जिस उत्कृष्ट शैली में तर्कों (प्रमाणों) के साथ इस विषय को आर्य जनों तक पहुचाया है, इसके लिए वे बधाई के पात्र है। ईश्वर उनको चिरायु प्रदान करें।

-ओमपाल शास्त्री

श्री भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य

साधु आश्रम होशियारपुर

प्रस्तुत पुस्तक का बाह्य-रूप कागज, मुद्रण, रूप-सज्जा की दृष्टि से आकर्षक एवं उपयुक्त है, इसके साथ अन्तरंग रूप भी प्रशंसनीय है, इसमें विषय का विवेचन सरलता और सरसता के साथ सुरुचि पूर्ण ढंग से किया गया है। विषय का प्रतिपादन शास्त्र-प्रमाण तथा युक्ति-तर्क से किया गया है और समझाने का ढंग भी आकर्षक है। अतएव कुछ पुनरुक्ति भी हो गई है, परिवर्तन और परिवर्धन की परम्परा सदा ही चलती रहती है। अपने विषय-विवेचन की दृष्टि से इस पुस्तक के योगदान की सदा स्मरण किया जायेगा। आशा है आर्य युवक सभा लुधियाना अपनी इस योजना को ऐसे ही गतिशील रखेगी।

-भद्रसेन वेद-दर्शनाचार्य

श्री राजेन्द्र जिज्ञासु

कविता-कुञ्ज अबोहर

पं० रामकुमार जी,

सप्रेम नमस्ते।

कृपा-पत्र प्राप्त हुआ व पुस्तक भी मिली। स्नेह के लिए आभार मानता हूँ। पुस्तक से भी अधिक मुझे श्री स्वामी जी के दर्शनों की चाह है। अजमेर में खोजा था, पर वह आए ही नहीं। कभी स्वामी जी को आप मेरे पास १५ दिन के लिए रखें। घर पर सेवा करूंगा और उनके संस्मरण लेकर उनका जीवन लिखूंगा।

"मानव शरीर और जीवात्मा" पुस्तक देखी, स्वामी श्री पूर्णानन्द जी का अध्ययन गम्भीर है। उनके मनन-चिन्तन पर हमें गर्व है, वे समाज की विभूति हैं। उनकी यह कृति पठनीय विचारणीय है। ऐसी सैद्धान्तिक पुस्तक का प्रकाशन होना ही चाहिये था। आचार्य राजवीर जी के मत का प्रतिवाद करते हुए 'झूठ' शब्द न लगाकर 'अठीक' लगाना अधिक अच्छा होता... ऋषि के भाष्य के प्रमाण प्रबल है। पुस्तक में जो पुराण-संज्ञा की बात है सो मैंने ही ऐसा लिखा था। यह संज्ञा मैंने ही दी थी। मुख पृष्ठ सुन्दर है। छपाई दोष-मुक्त है। प्रकाशन पर बधाई।

- राजेन्द्र जिज्ञासु

आचार्या प्रज्ञा देवी

पाणिनी कन्या महाविद्यालय, पो. वजरडोहा, तुलसीपुर वाराणसा

माननीय भाई रामकुमार जी!

सादर नमस्ते

आपका कृपा-पत्र एवं पुस्तक प्राप्त हुई। पुस्तक को मैं आद्योपान्त पढ़ गई हूँ। लेखक ने पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार ही आत्मा का स्थान प्रतिपादित किया है। बहुत अच्छा है। पुस्तक पसंद आई है।

किम् अधिकम् !

– आचार्य प्रज्ञा

डा० नारायण मुनि चतुर्वेदः

भूतपूर्व प्रधानाचार्य

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर

श्रद्धेय स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित 'मानव शरीर और जीवात्मा'' नामक पुस्तक ध्यानपूर्वक पढ़ी गई।

आपने बड़े परिश्रम के साथ पाण्डित्य पूर्ण शैली में जीवात्मा का निवास स्थान मस्तिष्क में, वेदों के, उपनिषदों के और योग दर्शन के व्यास भाष्य के साथ सङ्गति लगाते हुए सिद्ध किया है। साथ ही महर्षि दयानन्द के लेखों में विरोध का भी परिहार किया गया है।

यह आर्य जगत का एक बहुत बड़ा उपकार है। आपकी बधाई है। साथ ही प्रभू से प्रार्थना है कि आपकी दीर्घायुष्य प्रदान करें और आपकी सब शुभ इच्छायें पूर्ण करें।

–डॉ० नारायण मुनिश्चतुर्वेदः

श्री शिवपूजन सिंह कुशवाहा (एम.ए.)

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका 'वेदवाणी' पत्रिका के संयुक्त सम्पादक द्वारा सितम्बर 1984 के अंक में प्रकाशित

''मानव शरीर और जीवात्मा''

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती हैं। आप दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर के पुराने स्नातक व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक थे। आपके दर्शन मैंने लाहौर में तब किये थे जब आप महोपदेशक थे। स्वामी जी जैसे उच्च श्रेणी के वक्ता हैं वैसे ही उच्चकोटि के लेखक भी है। ''मानव शरीर और जीवात्मा'' में स्वामी जी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शरीर में ''जीवात्मा कहाँ है''? कुछ लोग ''जीवात्मा'' का स्थान हृदय में मानते हैं, जैसे दयानन्द सन्देश' के सम्पादक महोदय का विचार है। महर्षि कृत 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' पर टिप्पणी लिखते हुए सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प० युधिष्ठिर जी मीमांसक मस्तिष्क के अन्तर्गत मानते हैं। आपने ''वैदिक सिद्धान्त मीमांसा'' नामक ग्रन्थ में वेद, ब्राह्मण और आयुर्वेद ग्रन्थों के आधार पर इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती महाराज ने अनेक प्रबल पुष्ट प्रमाणों से मस्तिष्क में जीवात्मा का स्थान माना है, वहीं हृदयाकाश है। आपने विरोधियों के आक्षपों का सप्रमाण निराकरण किया है। पुस्तक विद्धत्तापूर्ण प्रबल पुष्ट प्रमाणों सहित है। प्रत्येक आर्य समाजों को यह पुस्तक पढ़नी चाहिये और प्रत्येक आर्य समाज के पुस्तकालय में ऐसी पुस्तक का होना अनिवार्य है।

-शिवपूजन सिंह कुशवाहा (एम०ए०)

डा० भवानी लाल भारतीय

संयुक्त मंत्री–परोपकारिणी सभा

प्रबन्धक सम्पादक–'परोपकारी' पत्रिका

श्री स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती आर्य समाज के गम्भीर तथा चिन्तनशील विद्वान् हैं। "मानव शरीर और जीवात्मा" उनकी नवीन कृति है जिसमें बहुत प्रमाण देकर यह यह सिद्ध किया गया है कि जीवात्मा का स्थान शिरोभाग है न कि वक्षस्थल। इस विषय की लेकर विभिन्न विद्वानों में नाना प्रकार के मतभेद दिखाई देते हैं, किन्तु श्री स्वामी जी ने अपने गहन अध्ययन तथा शास्त्रावलोकन से इस सम्बन्ध में जो स्थापनाएं की है वे निर्विवाद तथा अकाट्य हैं। आशा है इस पुस्तक का अध्ययन करने से जीवात्म की शरीर में स्थिति विषयक सभी विवाद शान्त हो जायेंगे।

आर्य युवक सभा लुधियाना ने इस उत्तम ग्रन्थ का प्रकाशन कर एक श्लाघनीय प्रयास किया है। ग्रन्थ की छपाई तथा साज–सज्जा आकर्षक है।

डा० भवानी लाल भारतीय

अध्यक्ष दयानन्द शोधपीठ, चण्डीगढ़

श्री रामधन जी

लुधियाना के वयोवृद्ध, निष्काम सेवी आर्य,

अनेक पुस्तकों के लेखक, सम्पादक तथा निःशुल्क वितरणकर्ता

उक्त पुस्तक के मूल लेखक श्रद्धेय स्वामी श्री पूर्णानन्द जी सरस्वती है। पुस्तक का अध्ययन करने से इसके रचयिता

महानुभाव जी का लेखन-कला, उनके शास्त्रीय प्रमाणों की बहुलता और उपयोगिता से उनके विस्तृत तथा अति व्यापक शास्त्र-ज्ञान का बोध निश्वस्त रूप से पाठकों को हो जाता है।

किन्तु उनका प्रतिपाद्य विषय इतना गहन और गम्भीर है जो सामान्य स्तर के पाठक महानुभावों के लिए सुगमता से ग्राह्य नहीं है। फिर भी श्री स्वामी जी का श्रम प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त प्रशसनीय तथा अभिनन्दनीय है।

श्री पं० रामकुमार जी आर्य का सम्पादक के रूप में किया गया श्रम भी सराहनीय और अनुकरणीय है और सभी पाठकों तथा इस पुस्तक के प्रकाशक-मण्डल का भी हमें अत्यन्त आभारी होना चाहिये, जिनके इस शोभनीय उपकार से हम सभी उपकृत हुए है। यही सर्वोपरि याज्ञिक कृत्य है। भगवान सभी की बुद्धियों को पवित्र और सात्विक बनाये रखें।

-रामधन लुधियाना

श्री रणवीर भाटिया

भूतपूर्व प्रधान-आर्य समाज दाल बाजार, लुधियाना

मान्यवर श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा लिखित ‘‘मानव शरीर में जीवात्मा का स्थान’’ पुस्तक पढ़ी। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी जी ने अपने विषय की पुष्टि में सप्रमाण तथा युक्ति-युक्त वेद-मन्त्रों की व्याख्या करके अपने विचारों के आशय को स्पष्ट करने का सफलता पूर्वक प्रयास किया है। मैं यह मानता हूँ कि यह एक गहन विषय है, पर गहन विषय को सत्यता के आधार पर सद् ग्रन्थों में से प्रमाण-लेकर अपने विचारों में लाना भी तो किसी-किसी ही विद्वान् का काम है।

आर्य युवक सभा भी बधाई की पात्र है कि उसने श्री स्वामी जी के इस प्रयास को पुस्तक रूप में प्रकाशित करवाकर एक महान कार्य किया है, हालांकि यह कार्य आर्य समाज की शिरोमणि सभाओं का है कि वे ऐसे साहित्य प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान देवें, परन्तु वर्तमान नेताओं की इस ओर रुचि नगण्य है। एक बार फिर प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन पर युवकों को बधाई देता हूँ। यह उनका प्रथम प्रयास था, फिर भी पुस्तक उपयोगी तथा आकर्षक बन पड़ी है।

–रणवीर भाटिया

प्रधान–सुईंग मशीन एसोसिएशन (राज.) लुधियाना

(संस्कारासमुच्चयः-जैन महा ग्रन्थ के प्रणेता)

श्री मदनमोहन विद्यासागर

आर्य विद्वान् पूर्णानन्द सरस्वती द्वारा रचित पं० रामकुमार आर्य-पुरोहित (लुधियाना) द्वारा सम्पादित "मानव शरीर और जीवात्मा" नामक पुस्तक देखी-पढ़ी-समझी।

मनुष्य पहले तो इसको जानने-समझने में उलझा रहता है कि–"मैं हूँ भी या नहीं?" फिर सोचता है "मैं हूं क्या?" शरीर या तद्भिन्न?" फिर खोजने लगता है कि "मैं इस शरीर में रहता कहाँ हूँ?"

इस प्रकार की "स्वरूप विषयक जिज्ञासा" व "स्वस्थान सम्बन्धी अनुसन्धान" दार्शनिक जगत् में पुरातन काल से चला आ रहा है। इस विषय में अधिकसम्मत निर्णय यह है कि "जीवात्मा शरीर से भिन्न है और वह हृत्यप्रतिष्ठ–हृदय देश में निवास करता है।"

परन्तु फिर संशय होता है कि वह 'हृत्यप्रदेश—हृदय' शरीर में कहां है? वह जीवात्मा हृदय (हृदिं अयं) में रहता है, पर इस "हृदय" की स्थिति कहां है? कण्ठ के ऊपर शिरोभाग में स्थित "ज्ञानसंवाहक" मस्तिष्क में या फिर कण्ठ से नीचे नाभि से ऊपर "रक्त प्रक्षेपक" नाम से प्रसिद्ध दोनों स्तनों के बीच के प्रदेश में?

इन दोनों प्रदेशों में जहां भी 'हृत्-गुहा' है वहां उसी में जीवात्मा का प्रवेश-निवास है।

कुछ का मत है—"जीवात्मा उस हृदय में रहता है वो रक्त-संचालक है और जो कण्ठ से नीचे, नाभि से ऊपर दोनों स्तनों के मध्य में स्थित है।"

कुछ का मत है—"जीवात्मा उस हृदय में रहता है जो शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क से सम्बद्ध है।"

हमारे विचारक ऋषियों का मत है कि "**यस्तर्केणानुसन्धते सधर्म वेद नेतरः तथा** "**वेदोऽखितोधर्म मूलम्**" और "**लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धि**"। इस के अनुसार सत्य निर्णय के लिये ऋषि दयानन्द ने कसौटी नियत की कि "जो जो वेदों के अर्थात् ईश्वर द्वारा प्रदत्त सत्यज्ञान के अनुकूल है, वह प्रमाण और मान्य है।"

इस दृढ़ आधार पर इस पुस्तक के रचयिता श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने "मानव शरीर में ब्रह्मपुर में आयोध्यापुरी में जीवात्मा के निवास का जो अनुसन्धान विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है, यह अत्यन्त प्रशसनीय है।

उनकी एतद्विषयक विवेचन पद्धति किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से शून्य है और वेद शास्त्रानुकूल है क्योंकि सूक्ष्म शरीर जीव के साथ ही रहता है और इसकी स्थिति 'कपाल' में है, सो जीवात्मा की स्थिति भी यही होनी चाहिए। यह बहुत सीधी और स्पष्ट बात है।

पाठकों को यह भी स्मरण करना चाहिये कि 'इच्छा ज्ञान प्रयत्न' और 'सुख दुःखाऽनुभूति' ये जीव की सत्ता के द्योतक हैं। इनके साधन सब इन्द्रियाँ और मन बुद्धि ये सब भी मस्तिष्क या मूर्धा से हो संचालित होते हैं। सौ इनका संचालक अधिष्ठाता भी तो, वहीं उस केन्द्र में स्थित होना चाहिये।

विद्वज्जन निष्पक्षपात हो, इस पुस्तक को पढ़, ऐसी हमारी प्रार्थना है, स्वामी जी की कलम से ऐसी उत्तम अन्य पुस्तकें निकल, ऐसी कामना है। पुस्तक का अभिनन्दन है और श्री स्वामी जी के लिये हमारा वन्दन है।

– मदनमोहन विद्यासागर, हैदराबाद

श्री सुखवीर सिंह भारद्वाज

खन्ना नगर, हरिद्वार

चिरायु रामकुमार जी आर्य!

आपके द्वारा प्रेषित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" को पढ़कर आर्य समाज के उस अतीत काल का स्मरण हो आया जिस समय आर्य-सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ही मान्य विद्वानों का पूर्ण प्रयत्न हुआ करता था। वास्तव में जिस संस्था के मौलिक सिद्धान्त सुरक्षित रहते हैं, वहीं संस्था फलती-फूलती है। केवल बड़े-बड़े व सुन्दर भवनों का नाम आर्य समाज नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने भवनों से बाहर रहकर भी जितना धर्म का प्रकाश किया वह अतुलनीय है। उसी महर्षि से सजग प्रहरी आर्य-सन्यासी श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती को आज के वातावरण में भी दृढ़ भावना में साहस से पूर्ण देखकर किस आर्य सज्जन को इस महान् विभूति पर गर्व नहीं होगा? उनकी नवीन कृति ''मानव शरीर और जीवात्मा'' में प्रतिपादित पक्ष का मैं समर्थन करता हूँ। प्रस्तुत पुस्तक की लेखन कला से प्रतीत होता है कि पूज्य स्वामी जी जीवन भर स्वाध्याय-रत रहकर आर्य समाज के गहन तथा सूक्ष्म सिद्धान्तों को समझने व प्रचार करने में सक्रिय रहे होंगे। मैं आर्य जनता से आकांक्षा रखता हूँ कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार करें।

सम्पादक व प्रकाशक भी प्रशंसा के पात्र हैं। मुद्रण-कार्य की कला व शुद्ध छपाई के लिए प्रिटिंग प्रैस के प्रबन्धकों की विद्वता व जागरूकता का भी आभस होता है।

-सुखबीर सिंह भारद्वाज

प्रथम संस्करण में प्रकाशित
आर्य युवक सभा लुधियाना द्वारा की गई अपील ...

श्रद्धेय श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती द्वारा रचित पुस्तक "मानव शरीर और जीवात्मा" की आर्य विद्वानों का पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ है जैसा कि प्रकाशित विद्वज्जनों की सम्मत्तियों से प्रकट होता है। पुनरपि एक विद्वान् श्री राजबीर शास्त्री सम्पादक "दयानन्द सन्देश" ने पुस्तक की पत्रों व लेखों के द्वारा भरपूर आलोचना की है। श्री राजबीर शास्त्री की अपना पत्र "दयानन्द सन्देश" एक अच्छा साधन है। इस पत्र के द्वारा भी अब अक्टुबर १९८४ के अंक में उन्होंने इस पुस्तक की आलोचना में लिखना आरम्भ किया। यद्यपि श्री राजवीर शास्त्री की एतद् विषयक मान्यताओं का इस पुस्तक के तृतीय भाग में यथोचित खण्डन हो चुका है, परन्तु फिर भी अपने पूर्व दुराग्रह की पुष्टि में उनकी जो कुछ आपत्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उन पर श्री स्वामी जी ने पर्याप्त सामग्री लिखकर श्री शास्त्री जी की शंकाओं के उत्तर दे दिये हैं।

श्री राजवीर शास्त्री जी से हम न्यायोचित आशा रखते हैं कि वह अपनी आपत्तियों के उत्तर में लिखे श्री स्वामी पूर्णानन्द जी के लेखों को भी साथ-साथ प्रकाशित करायें ताकि निष्पक्ष रूप से पाठक जन सत्य और असत्य का निर्णय कर सकें। इस पुस्तक के प्रमाणों व मान्यताओं का विरोध केवल शास्त्री जी का ही प्राप्त हो रहा है, क्योंकि उनकी धारणा (पूर्वाग्रह) बहुत पहले से बन गई है उसे छोड़ना भी आसान नहीं।

शास्त्री जी को छोड़कर सभी अन्य उच्च कोटि के विद्वान् सन्यासियों का पक्ष पुस्तक के बारे में अनुकूल रहा है। विद्वानों का निर्ण सर्वोपरि है अत: शास्त्री जी को भी स्वीकार करना चाहिये।

विद्वानों की इन सम्मतियों को झूठी चाटुकारिता तो शास्त्री जी कदापि न समझें। रही शास्त्री जी की आपत्तियाँ, सो उनका उत्तर पूज्य श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने लिख दिया है।

दयानन्द-सन्देश, वेद-वाणी, परोपकारी, आर्य-मर्यादा 'आर्य सन्देश' तथा 'आर्य-जगत' आदि सभी आर्य पत्रिकाओं के सम्पादकों से हम लुधियाना के नवयुवक अपील करते हैं कि हमारी ओर से भी भेजे गये स्वामी जी द्वारा लिखे लेख प्रकाशित कराकर आर्य-जगत की इस आध्यात्मिक गुत्थी को सुलझाने में सहयोगी बनें। इन पत्रिकाओं के प्रबन्धकों के हम आभारी रहेंगे। अभी तक 'वेद-वाणी' पत्रिका में एक लेख प्रकाशनार्थ भेज दिया है। अन्य पत्रिकाओं को भी ये लेख भेजे जा रहे हैं।

धन्यवाद सहित कृपाकांक्षी

प्रधान-आर्य युवक सभा, लुधियाना

❑❑❑

प्रेरणा-स्वर

वैर को विसार कर, प्रेम को प्रसार कर,
वीरता बगार कर, हिम्मत न हारिए।
काम, क्रोध मद लोभ का प्रचण्ड गढ़,
कर्म-वीर बन ज्ञान गोलों से विदारिए।
जाति का जहाज भव सागर में डूब रहा,
आओ बन्धु! उसे वेद बल्ली से उभारिये।
डींग मत मारिये, कुरीति को निवारिये।
सकल दुख टारिये, सुधर्म ध्रुव धारिये।

प्रेषक-श्री सुधीर भाटियो

लेखक की प्रकाशित कुछ अन्य पुस्तकें

1. वृक्ष जीवधारी हैं

बहुत समय से आर्य विद्वानों में इस विषय पर मतभेद चला आ रहा है कि 'वृक्षों में जीव है या नहीं?' श्री स्वामी दर्शनानन्द पं० गङ्गा प्रसाद उपाध्याय व आज के भी अनेक विद्वानों का मत है कि "वृक्ष जड़ हैं।" दूसरी ओर पण्डित गणपति शर्मा व कई विद्वानों का विचार रहा है कि वृक्षों में जीव है। यहाँ भी उल्लेखनीय है कि वनस्पति-विज्ञान भी वृक्षों को जड़ स्वीकार नहीं करता है। इस महत्त्वपूर्ण विषय को तर्क की कसौटी बड़े वैज्ञानिक ढंग से श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री (वर्तमान स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती) जी ने अपूर्व विश्लेणात्मक शैली में सुलझा दिया है और उन्होनें वेदों तथा ऋषि दयानन्द की मान्यता के आधार वृक्षों में जीव की सत्ता को सिद्ध कर दिया है। "वृक्ष जीवधारी है" नामक यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

आज तक वृक्षों को जड़ मानने वाले विद्वान् 13 वर्षों में ... का उत्तर नहीं दे पाये, क्योंकि पुस्तक में तर्क व अकाट्य हैं।

2. ब्रह्मचारी कृष्णदत्त बनाम श्रृंगी ऋषि पोल-प्रकाश

ब्रह्मचारी कृष्णदत्त (बरनावा-मेरठ) को श्रृंगी ऋषि का अवतार मानने का भ्रम आर्य समाजियों में भी बढ़ता चला गया।

व्यापक रूप से फैलते जा रहे इस नवीन पाखण्ड को दूर करने के लिये ब्रह्मचारी कृष्णदत्त के सुप्तावस्था में दिये गये सैकड़ों प्रवचनों के संग्रह को पुस्तकों में बड़ी ऊहापोह से पढ़ा, वेदों और ऋषि दयानन्द की आड़ में यज्ञों के प्रदर्शन करके कुछ स्वार्थी तत्त्वों के सहयोग से यह मधु-मिश्रित विष

आर्य-जनता को भी पिलाया जा रहा था। श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने उक्त पुस्तक लिखकर आर्य सज्जनों को सचेत किया। इस पुस्तक की अनेक उच्च-कोटि के विद्वानों ने भी प्रशंसा की है। इस पुस्तक के विषय में अधिकृत विद्वानों की सम्मतियाँ भी प्रकाशित कराई गई हैं।

3. योगी का आत्म-चरित्र एक षडयन्त्र है

जिस प्रकार योगिराज श्री कृष्ण के उदात्त जीवन चरित्र को श्रीमद् भागवत पुराण में पंडित वोपदेव ने मलिन कर रख दिया, इसी प्रकार महर्षि दयानन्द के जीवन में काल्पनिक बातें और चमत्कारों को जोड़कर सस्ती लोक-प्रियता के इच्छुक पंडित दीन बन्धु शास्त्री और योगी सच्चिदानन्द जी ने एक पुस्तक लिखी है "योगी का आत्म-चरित्र"

(एक अज्ञात जीवनी)।

यद्यपि उस समय जागरूकता के अभाव में सार्वदेशिक सभा का भी आंशिक सहयोग इस पुस्तक के प्रकाशन में मिल गया, फिर भी बाद में अनेक माननीय और अधिकृत विद्वानों ने इस पुस्तक को झूठ का पुलन्दा बताया। डाक्टर भवानीलाल भारतीय ने इसे एक नवीन उपन्यास बताया व एक विद्वान् ने इसे पुराण की संज्ञा दी।

इस पुस्तक के जबरदस्त खण्डन में सन् 1973 ई० में ही श्री स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती ने "आर्य मर्यादा" में 32 लेख लिखे थे। उन लेखों व इस विषय से सम्बन्धित सामग्री व उपयोगिता को समझते हुये उस समस्त सामग्री को इस पुस्तक को प्रकाशित कराया गया है। इस पुस्तक के प्रमाण अकाट्य

सिद्ध हुये हैं। निर्वाण शताब्दी (1983) में प्रकाशित ग्रन्थ "नव जागरण के पुरोधा ऋषि दयानन्द" में भी इस पुस्तक की चर्चा आई है। इस पुस्तक के अधिकाधिक प्रचार से ऋषि दयानन्द के पावन जीवन की सुरक्षा हो सकेगी।

ये सभी पुस्तकें प्राप्त करने का पता—

डॉ० वीरोत्तम तोमर

D-8, आदर्श नगर, मेरठ

जिला मेरठ (यू.पी.) 250611

e-mail : veerottam@gmail.com

अप्रकाशित पुस्तकें

इनके अतिरिक्त लेखक की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अभी अप्रकाशित हैं जैसे—1. इस्लाम मत पर भारत के मुसलमान भाइयों से एक बिरादराना अपील। 2. ईसाई मत पर—ईसा के मृत्यु का रहस्य। आप ने "**दयानन्द का योग**" विषय पर लेख लिखे हैं।

ऋषि व्यास ने कहीं पर भी ईश्वर के रहने का घर नहीं माना। वेदान्त शास्त्र महर्षि व्यास की ही रचना है, उसमें यही सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसका कोई रंग-रूप नहीं। भाष्य में ब्रह्मपुर का वर्णन इसलिये नहीं किया गया कि यह ब्रह्म के रहने का घर है, बल्कि इसलिये किया गया है कि मनुष्य के शरीर में ही ब्रह्म की उपासना और भक्ति हो सकती है, दूसरे प्राणियों के शरीरों में परमात्मा का चिन्तन नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य के शरीर को ही ब्रह्मपुर कहा है। इस मनुष्य-शरीर में दहर अर्थात् छोटा सा कमल-गृह है, इस कमल गृह में अति सूक्ष्म तत्त्व बुद्धि-सत्त्व है, बुद्धि-सत्त्व में जीवात्मा, जीवात्मा के अन्दर परमात्मा व्यापक है। इसलिये आत्मा और परमात्मा की खोज बुद्धि-सत्त्व के अन्दर करनी चाहिये।

पृष्ठ सं० 36

•••

इसी पुस्तक से ...

हृदय शब्द का प्रयोग दो स्थानों के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक वह स्थान है जहाँ सारे शरीर से शिरा और धमनी के द्वारा दूषित रक्त प्रवेश करता है और फेफड़ों के द्वारा अशुद्ध रक्त शुद्ध होकर धमनी द्वारा वहाँ से सारे शरीर में पहुँचता है। यह स्थान छाती के दायें स्तन के नीचे से वक्ष-स्थल के बायें भाग में रहता है। दूसरा हृदय वहाँ है जहाँ मस्तिष्क के अन्दर मुख्य प्राण का कार्य (कण्ठ, नासिका, आँख और दोनों कान हैं) चलता है, वहाँ बुद्धि के आवेष्टन में आत्मा का निवास है। इसका प्रमाण स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद अध्याय १८ मन्त्र २ से और प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न से तथा अथर्ववेद १०।२।२६-२७। से तथा ऋग्वेद के ६।९।६। से होता है। अत: सिद्ध है कि जीवात्मा का स्थान मस्तिष्कान्तर्गत हृदय में है और उसके आस-पास ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन सहित रहती हैं।

पृष्ठ सं० 81

लेखक की अन्य पुस्तकें

1. **वृक्ष जीवधारी है**
2. **ब्रह्मचारी कृष्णदत्त बनाम श्रृंगी ऋषि पोल-प्रकाश**
3. **योगी का आत्म-चरित्र एक षडयन्त्र है**